* ॐ *

वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला संख्या ५.

वेद-सन्देश

तृतीय भाग

(प्रभु-सन्देश)

प्रथम उच्छ्वास

अर्थात्

प्रभु-जिज्ञासाका तर्क तथा वेदके आधारपर
कथाके रूपमें पूर्ण वर्णन।

लेखक
श्री विश्वबन्धु शास्त्री, एम.ए.एम.ओ.एल.
आचार्य
दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर।

पं० देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर ने
श्रीमती प्रबन्ध-कर्त्री सभा, डी.ए.वी. कालेज लाहौर
के लिये प्रकाशित किया।

द्वितीयावृत्ति १०००   दयानन्दाब्द १०७   मूल्य ।।।) सादा
" १) सुनहरी जिल्द

लेखककी अन्य पुस्तकें

वेद-सन्देश प्रथम भाग	...	१॥)
वेद-सन्देश द्वितीय भाग	...	१)
देवयज्ञप्रदीपिका ...	...	१।)
आर्योदय ...	...	१)

मैनेजर, वैदिकाश्रम ग्रन्थमाला

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय,

लाहौर।

मुद्रक—
"हिन्दी इलैकट्रिक प्रैस"
मैक्लेगन रोड, लाहौरमें मैनेजर
बिहारीलालके अधिकारसे
श्रीमती प्रबन्धकर्त्रीसभा डी.ए.वी.
कालेज लाहौरके लिये छपा।

वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रस्तावना

१—वेद-सन्देश ग्रन्थका जो मान आर्य जनताने अब तक किया है, उसीने मुझे इस कार्यको जारी रखनेके लिये प्रोत्साहित किया है। प्रथम भाग प्रथमवार मथुरा शताब्दीपर और फिर उससे अगले वर्ष दूसरी वार प्रकाशित हो चुका है। दूसरा भाग आजसे दो वर्ष पूर्व, हरद्वारके कुंभपर छापा था। इस अन्तरमें मानसिक तथा कायिक अस्वास्थ्यने काम करनेसे हटाये रखा। यह भगवान्की अपार दयाका ही फल है, कि इस तृतीय भागको प्रिय पाठकोंके हाथोंमें भेंट करनेके योग्य हुआ हूं। जो प्रतीक्षा उन्हें करनी पड़ी है,उसके लिये क्षमार्थी हूं।

२—ग्रन्थके विषय-क्रमके अनुसार इस भागमें प्रभुके संबन्धमें वेदका सम्पूर्ण भाव रखना चाहिये, था। परन्तु ग्रन्थ मर्यादासे बढ़ न जावे, इस भावको सामने रखकर, केवल जिज्ञासाके स्वरूपका ही इस भागमें वर्णन किया जा सका है। वैदिक भक्तिका विस्तृत विषय चतुर्थ भागके लिये रख लिया गया है। इस प्रकार इस भागमें चतुर्थाध्यायका केवल प्रथम उल्लास ही आ सका है। इसके अन्दर जिज्ञासाके सम्पूर्ण विषयको बारह खण्डोंमें निरूपण किया गया है। मन्त्रों तथा विषयोंकी पूर्ण सूचियां पूर्ववत् लगा दी गयी हैं। आशा है, स्वाध्यायशील सज्जन इस उपहारसे सर्वथा सन्तुष्ट होंगे और लेखकको पूर्ववत् उत्साहित करेंगे। पूरा ध्यान देनेपर भी अनेक त्रुटियोंका रहजाना स्वाभाविक है। योग्य सज्जन उनकी ओर ध्यान दिलाकर अनुगृहीत करें। इन शब्दोंके साथ इस लघु ग्रन्थको प्रस्तुत यात्रापर प्रस्थापित करता हूं।

वैदिकाश्रम, लाहौर
श्रावणी, १९८६

विश्वबन्धुः

विषयानुक्रमणिका ।

मन्त्रोंकी अकारादि क्रमसे सूची।

अकारादि क्रमसे विषय सूची।

ग्रन्थेऽत्र वेदसन्देशेऽध्याये वेदसम्मिते ।
जिज्ञासाविषयालंब उच्छ्वासश्चायमादिमः ॥

चतुर्थाध्याय ।

प्रथम उच्छ्वास ।

प्रभु-जिज्ञासा ।

❀ ओ३म् ❀

प्रथम खण्ड ।

भगवदाराधन तथा ग्रन्थारम्भ संकेत ।
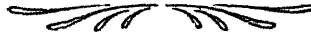
ओ३मित्येकाक्षरं ब्रह्म परं गुह्यं सनातनम् ।
वेदराशिं प्रदातारं प्रणतोऽहमहर्निशम् ॥ १ ॥
ध्यात्वा तमहं देवं सर्वलोकसमाश्रयम् ।
वेदसन्देश*लब्धाख्यं प्रथ्नामि ग्रन्थमुज्ज्वलम् ॥ २ ॥*

अर्थ—हेभगवन्, आप अविनाशी, परम सूक्ष्म, सनातन तत्त्व हो। आप वेद-विज्ञानका प्रदान करने वाले हो। प्रभो, दिन रात आपके मंगलमय चरणारविन्दमें मेरा नमस्कार हो ॥ १ ॥ सर्व लोकोंके आधार, विभो ! आपका ध्यान करके, वेदसन्देश नाम करके प्रसिद्ध, आपके ज्ञानसे उज्ज्वल, ग्रन्थके विधानमें पुनः प्रवृत्त होता हूं। मेरा यह प्रयत्न सफल हो ॥२॥

कृत्वा वर्णनमथाद्योः सुविपुलं देहात्मचित्ताश्रयं,
भागो भागवतभक्तिप्रभरितस्तार्त्तीयकस्तन्यते ।
सन्देशं निगमनिष्कर्षमधुरं श्रुत्वाथ धृत्वा शुभं,
ब्रह्मानन्दरसपानप्रवणतां लोका लभन्तां ध्रुवम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वेद-सन्देशके प्रथम दो भागोंमें शरीर, मन तथा आत्मा अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तिका विस्तृत वर्णन करके, व्यक्तिकी सफलताकी कुञ्जी, भगवद्भक्तिके विस्तारार्थ, यह तीसराभाग आरम्भ किया जाता है। प्रभु आशीर्वाद दें कि सकल जनता इस वेदोंके साररूपी, शुभ सन्देशको सुनकर, ब्रह्मानन्दरूपी रसपानकी ओर श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त हो ॥ ३ ॥

हरति मलिनतामादर्शदृष्टेर्विहन्त्रीं,
वितरति सुगुणानामुज्ज्वलां दीप्तिमन्तः ।
दहति हृदयचौरं पापरूपं विरूपम्,
अनृतवियुतभक्तिः पादयोरीश्वरस्य ॥ ४ ॥

अर्थ—हे प्रभो! आपकी सच्ची भक्ति क्या कुछ नहीं कर सकती? यह आदर्शको देखनेवाली दृष्टिके मार्गको रोकने वाली, चित्तकी मलीनताको हटाकर उत्तम गुणोंके उज्ज्वल प्रकाशको पैदा कर देती है। और तो क्या, हृदय-चौर बन कर सर्वनाश करने पर तुले हुए, नाना प्रकारके उलटे रूपोंको धारण कर २ के मोहित करने वाले, पाप-पिशाचको भस्म कर देती है ॥ ४ ॥

अकरणविषयं स्यात्तत्सुखातानसूत्रम्,
इह मम खलु लक्ष्यं चित्तसन्तोषसाध्यम् ।
यदधिगतिविकासा योगिनो योगसिद्धाः,
किमिति ! किमिति ! चेतो विस्मयं बोधयन्ति ॥५॥

अर्थ—हे महाराज! मैं उसी चित्त-सन्तोषसे प्राप्त होने वाले परम सुखके विस्तार-स्वरूप, आपके स्वरूपको अपना एकमात्र लक्ष्य बनाना चाहता हूं। मैं जानता हूं, वहां किसी इन्द्रिय-शक्तिकी पहुंच नहीं हो सकती। परन्तु फिर भी, योग-सिद्ध योगियोंका अनुकरण करना चाहता हूं, जो आपकी प्राप्तिसे परमविकासका लाभ करके, "वाह, वाह" करते हुए और कुछ न कह सकते हुए, अपने अन्दरके आश्चर्य्यके भावको किसी प्रकार प्रकट करते हैं॥ ५॥

कान्तारे तरुगुल्मकण्टकवृतो ग्रावाग्रभागैः क्षत—
श्चेतोवृत्तिनिरोधयत्नचरितैः कृच्छ्रैस्तपोभिः कृशः।
दूरस्थो विजने शिलातलगतो मग्नःसमाधौ यमी,
यज्ज्योतिःकिरणैः प्रफुल्लवदनो देवाय तस्मै नमः॥ ६॥

अर्थ—हे भगवन्, दूर, एकान्त, निर्जन वनों में, झाड़ झंकारसे घिरा हुआ, कण्टकोंसे छिदा हुआ और पत्थरोंकी नोकोंसे कटा हुआ, योगी आपकी तलाशमें तीव्र तपको तपता हुआ न केवल दुःख नहीं मानता, वरन् आपकी ज्योतिसे सदा उसके मुखपर सूर्यका सा प्रकाश रहता है। हे अचिन्त्य-महिम, देव! आपको वारम्वार नमस्कार हो॥ ६॥

———

द्वितीय खण्ड ।

सप्तसरोवर का वैभव ।

*वस्तु०—महाराज, नमस्ते !

महा०—नमस्ते ! अच्छे हो ? क्या समाचार है ?

वस्तु०—महाराज, आपकी दयासे सब ठीक है। आपके दर्शनोंकी बड़ी चाह थी, सो आपने संगतपर बड़ी कृपा की है।

लोक०—महाराज, आपने वेद भगवानमें हमारी ऐसी प्रीति पैदा करदी है, कि थोड़ा बहुत सत्संग प्रति दिन करते ही रहे हैं।

सत्य०—यह तो आपने अच्छा किया। यह सिलसिला अब टूटना न चाहिये। येह तो बताइए, उपदेशका क्या प्रबन्ध रहा है ?

वस्तु०—भाई, उपदेश तो विशेष रूपसे क्या होना था ! परस्पर वार्तालाप करते रहते थे और जो कुछ महाराजसे अमृतपान किया था, उसीका वार २ आस्वादन करते रहे। आप यह सुन कर प्रसन्न होंगे, कि कुछ नये सत्संगी बढ़ गये हैं।

महा०—बड़ी अच्छी बात है। क्या नहीं देखा, किस तरह छोटी २ चींटियां शनैः २ बड़ी २ वामियां बना लेती हैं। यही

---

* नोट—पूर्ण नाम पहिले भागमें दिये जा चुके हैं। वस्तु० से वस्तु-स्वरूप, लोक० से लोकेश, माया० से मायाराम, महा० से महात्मा, सत्य० से सत्यकाम, शून्य० से शून्यानन्द, उप० से उपराम तथा अन्त० से अन्तरानन्द जानना चाहिये।

बात धर्मके विशाल भवनके बनानेमें समझनी चाहिये। श्रद्धा पूर्वक चिरकाल तक निरन्तर पुरुषार्थ करनेसे तथा परस्पर सहायतासे ही सफलता होती है। मुझे आपके धर्म-भावसे बड़ी प्रसन्नता होरही है।

वस्तु०—भगवन् ! यह आपके ही बोए हुए बीजका अंकुर है।

लोक०—महाराज, कुछ हरिद्वार-कुम्भकी यात्राका समाचार भी सुनाइए। मैं मायाराम जीके साथ तय्यार भी हुआ, परन्तु घरके धन्धोंने रोक ही लिया।

माया०—अच्छा किया, जो यहीं रहे। यदि महाराजके सत्संगका प्रसंग न होता, तो मैं तो कबका वापिस आगया होता। यों ही तीर्थ २ करके आडम्बर बना रखा है। वहां धरा ही क्या है ?

सत्य०—नहीं, ऐसा मत कहिए। सप्त सरोवरका आनन्द मुझे तो भूलेगा नहीं। इसी स्थानपर आजसे साठ वर्ष पूर्व, ऐसे ही कुम्भके अवसरपर, महाराज दयानन्दने पाखण्ड-खण्डनी पताकाको खड़ा करके, अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और अदम्य शक्तिका परिचय दिया था। यह वह रम्य स्थान है, जहां गंगा हिमालयसे उतर कर मैदानमें पग धरती है। यहां पहुंचते ही, वह प्रसन्नतासे, मानों उछलती हुई अनेक स्रोतोंमें बह निकलती है। इन धाराओंके साथ २ कोसों ऊपर तक जंगलोंमें साधु लोग डेरे डाले बैठे थे। उससे भी और ऊपर, एकान्त विचरनेका अनूठा आनन्द था। दोपहरका समय था। गंगाके प्रवाहका शान्त नाद न जाने कहां २ का सन्देश

सुनाता था। शीतल सुनील नीर नेत्रोंको खींचता हुआ बहा चला जाता था। वहींपर किसीने छोटा सा फूस का छप्पर डाल रखा था। उस आनन्दका मैं अब भी स्मृति द्वारा जब आस्वादन करता हूं, तो मेरे रोंगटे खड़े होजाते हैं। मैं उस समयका क्या वर्णन करूं? नेत्र बाहिरकी और चित्त अन्दरकी गंगा में निमग्न होकर, एक मायामयी स्थिति पैदा कर देते थे। मैं तो उस प्रकारके दो चार दिनके निवासको जीवनकी एक सम्पत्ति ही समझता हूं। मायाराम, थकना और निराश होना तो कहां रहा, मैं तो उस प्रकारके जीवनकेलिये, न जाने, कब तक तरसता ही रहूंगा।

महा०—भाई, यह अन्याय इसके साथ क्यों करते हो? मायाराम को गंगा-भूमीकी सुन्दरता, विशालता और विचित्रतासे इनकार नहीं हो सकता। वस्तुतः, इसी शान्तिके वैभवने तो इस प्रदेशको सदासे ऋषियों, मुनियों, तपस्वियों और महात्माओंका प्यारा बना रक्खा है। लाखों आदमी विना किसी हेतुके वहां इकट्ठे नहीं होने लग गये? इसका लंबा इतिहास है। यह सोचकर दुःख होता है, कि असली बातका तत्त्व बीचसे निकल चुका है। पुराने स्थानका नवीन यात्री जिस देवताकी तलाश में वहां भटकता है, उसका अब वहां ढूंढेसे भी पता नहीं चलता। इसी भ्रम-लीलासे मायारामका दिल खिन्न हुआ दीखता है।

माया०—सत्य, महाराज, सत्य है। मैंने बचपनसे गंगाकी बड़ी महिमा सुन रखी थी। मैं विचित्र उल्लास और उत्साहको लेकर, आपकी अरदलमें वहां पहुंचा। मेरी छोटी अवस्था

साधु, महात्माओंकी सेवामें बीती थी। मेरी उनके प्रति अगाध भक्ति और श्रद्धा थी। विचारका भेद हो जानेपर भी, मैं अभी तक नहीं समझ सका था कि मायावादके अयुक्त प्रचारसे देशकी कितनी हानि हुई है? भगवन्, वहां जाकर मेरा तो हृदय हिल गया। मैंने चारों ओर पाखण्डही पाखण्ड देखा। धर्मके भेषमें हज़ारों लुटेरे डाकुओंको फिरते देखा। हज़ारोंको नाना प्रकारके नशोंमें बदमस्त होकर, अपने जीवनका और जातीय सम्पत्तिका सर्वनाश करते देखा। भोले लोगोंको ऐसे शिकारियोंके पंजोंमें फंसे हुए पाकर मुझे रोना आता था। कभी क्रोध भी पैदा होता था कि ये इतने निर्बल क्यों होगये हैं, जो अपने आपको इस अज्ञानकी फाँससे छुड़ा नहीं लेते। मैं सच कहता हूं, मैंने उस लाखोंकी भीड़ भाड़में किसीको शान्तिका पुजारी नहीं पाया। डेरेदार, महन्त यात्रियोंके सिर चढ़कर अपना उल्लू सीधा करने लगे थे। पर था, उस सारे ठाठ बाठकी तहमें पोलापन। यह मेला क्या था? घर फूंककर तमाशा देखने वाली बात थी। करोड़ों रुपये बटोरकर भी, रेल वाले लोगोंको भेड़ोंकी भान्ति इधरसे उधर और उधरसे इधर हांके फिरते थे। आरामका नाम तक न मिलता था। यह तो वहांका हाल था और जब किसी प्रकार वहां लीला समाप्त हुई, तो देशके कोने २ रोगके पार्सल बुक करके भेज दिये गये। और यह किसके बसमें है कि ऐसी या इससे भी बुरी दुर्दशा वहीं पर या अन्य तीर्थोंपर फिर नहीं होगी। नहीं, महाराज, इस बड़े देशके अन्दर यात्राओंका तो इसी प्रकार तांतासा लगा रहता है। कितना पाप और अत्या-

चार होता है? कितना अनर्थका विस्तार होता है? कितना कायरताका प्रचार होता है? महाराज, कुछ कहते नहीं बनता। घोर अन्याय है। देशवासियोंकी सुध लेनी चाहिये।

वस्तु०—तब तो हमने अच्छा किया, जो वहां नहीं गये।

महा०—नहीं, बिल्कुल एक बहावमें भी न बह जाना चाहिये। ऐसे अवसरोंपर ही ठीक २ अनुभव प्राप्त होता है। वस्तुतः हरद्वार बड़ा रमणीक स्थान है। हमारे पूर्वजोंने जिस २ स्थानको तीर्थकी पदवी दी है, वह सचमच प्राकृतिक सौन्दर्यका घर है। ऐसे स्थानोंकी वर्षदिन पीछे यात्रा करनेसे चित्तपर अवश्य अच्छा प्रभाव पड़ता है। यदि वहां साथही सत्पुरुषोंका सत्संग भी प्राप्त हो सके, तो सोनेपर सुहागे वाली बात हो। शायद पहिले ऐसा लाभ होता भी हो, परन्तु अब ऐसा नहीं है। जनताकी भीड़में प्रकृतिदेवी, मानो, घूंघटकी ओटमें होजाती है। उसका सौन्दर्य कुछ फीकासा प्रतीत होने लगता है। लाखों मनुष्योंकी खिचाखिचमें सिर छिपानेको झोंपड़ीका पाना भी कठिन होजाता है। महन्तोंकी चांदी है। इससे भी बढ़कर शोचनीय यह बात है कि लोगोंके सामने कोई ऊंचा लक्ष्य नहीं होता। गंगा-तीरपर निवास-मात्रसे ही वे पुण्यवान् होजाते हैं। एक ही लगनमें स्नानकी महिमा पाखण्डके दर्जे तक जा पहुंची है। धक्केपर धक्का चलता है। मार्ग बन्द होजाते हैं। कई पिस जाते हैं।

लोक०—महाराज, ऐसा क्यों होता है?

महा०—क्या कहें! मिथ्या विश्वासोंकी भी कोई सीमा नहीं। लोग सस्ता सौदा चाहते हैं। नेकी करो। पाप और

अन्यायसे बचो। आत्म-संयम करो। आहार, विहारका विचार करो। इन बातोंमें सद्धर्मकी जान है। पर इनपर चले कौन? स्वाभाविक सुखप्रियताके कारण, मनुष्य अनेक प्रकारके चकमोंमें फंस जाता है। उनमेंसे ही यह भी एक चकमा है कि तीर्थस्नानसे ही पापसे मुक्ति होजाती है। सारा जीवन जो चाहो करो। गंगामें एक डुबकीसे अन्दर क्या और बाहिर क्या, सब प्रकारसे शुद्ध हो सकते हो। इससे बढ़कर और सस्ता सौदा क्या होगा?

वस्तु०—महाराज, तीर्थका असली भाव क्या है?

महा०—तीर्थ घाट या पत्तनका वाचक है। संसार एक महानदी है। इसी लिये इसे भव-सागर कहते हैं। जीवनकी नौकाको इसमें किसी अच्छे घाटसे ही डालना चाहिये। कभी ऐसा मत हो, कि रातको हम सोये ही रहें और नौकाको प्रलोभनोंकी तरंगें कहींसे कहीं बहा ले जावें। सद्गुरुओंको ही सच्चा तीर्थ समझो। वे ही इस विशाल सागरसे निर्भय करके पार कर देते हैं।

लोक०—भगवन्, हरद्वारादि तीर्थ क्यों कर बन गये?

महा०—कोई समय था जब ये दोनों प्रकारसे तीर्थ थे। पर्वतसे उतर कर उस पार जाने वालेके लिये ये स्थान अच्छे तीर्थ थे और अब भी हैं। लोग आते जाते हुए, साधु, महात्माओंके उपदेशामृतका भी पान करते थे। दोनों गंगाओंसे पार हो जाते थे। पर समयके फेरसे, अब वह बात नहीं है। असल जा चुका है, पोल रह गयी है। अब उपदेशके स्थान पर जल ही मोक्षका साधन बन रहा है।

लोक०—अब भी तो साधु, महात्माओंकी वहां छावनी पड़ी रहती है। क्या उन्होंने उपदेश करना छोड़ रखा है?

माया०—भली कही! प्रभु उन साधुओंसे रक्षा ही करे। कहनेको तो गंगास्नानके लिये 'शाही' निकलती है। पर होता क्या है? हाथियों पर सोने और चान्दीके हौदोंमें सज धज कर बैठे हुए इन 'विरक्तों' को देख कर तो बड़े २ सेठोंके मुंहमें भी पानी भर आता होगा। पर यहीं तक होता, तब भी कोई बात थी। धूर्त्तोंको जनताके आगे से, स्त्रियोंके बीचमें से, दोपहरके समय, सैंकड़ोंकी पंक्तिमें नंगे जाते हुए लज्जा तक नहीं होती। भला, यह भी कोई सभ्यता है? और लोगोंकी भी मूर्खताकी क्या कहें? दर्शनोंके लिये घण्टों पहलेसे ही इन की बाट जोहते हैं। अच्छे २ घरानोंकी देवियां इन निर्लज्जताके रंग में रंगे हुओंके चरणोंमें सिर रख २ कर नमस्कार करती हैं। मुझे तो अब प्रति दिन विश्वास होता जाता है कि जब तक सत्य-विवेक स्वरूप, वेदका सन्देश सर्वत्र न पहुंचेगा और अविद्या-पिशाचीका नाश न करेगा, तब तक न सच्चा धर्म ही विस्तृत होगा और न जनताको सुख ही प्राप्त होगा।

महा०—मायाराम जी, आप सत्य कहते हैं। पर निराश होनेकी कोई बात नहीं। अवस्था सुधर रही है। अनुकूल वायु चलने लगा है। लोगोंका ध्यान इधर होरहा है। बारह ही वर्षमें बड़ा अन्तर देख पड़ा है। पहिले गंगा-स्नानके सिवाय बिलकुल और कोई बात न थी। केवल आर्यसमाज वाले कुछ धर्म-प्रचारका प्रबन्ध करने लगे थे, परन्तु क्या आपने नहीं देखा, इस वार तो कोई डेरा उपदेश-मण्डपसे शून्य न था।

जिधर देखो, व्याख्यान हो रहे थे । बड़े २ सम्मेलनोंकी बैठकें होरही थीं । देश-सुधार, जाति-सुधार, साधु-सुधार, तीर्थ-सुधार और अन्य कितने ही सुधारोंकी दुन्दभि बज रही थी। इसलिये जहां यह सच है कि हज़ारों उसी तीर्थ-स्नानके पुराने भाव से प्रेरित होकर वहां गये हुये थे, वहां यह भी प्रत्यक्ष है कि हज़ारों केवल तमाशा देखनेके लिये या उस इकट्ठका लाभ उठाकर अपने विचारोंके प्रचारके लिये भी वहां जा डटे थे। इस प्रकार अनेक प्रथाओं और नये पुराने विचारोंके मन्थनका यह युग है। अभी यह कहना कठिन है कि कब व्यवस्था ठीक होगी? शायद ऐसे ही अभी चिर तक चली चले। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं, कि मनुष्यका कदम आगे ही आगे पड़ रहा है। घबरानेकी कोई बात नहीं । पुरुषार्थ करनेका यही तो समय है। अस्तु, आपने हमारी यात्रा का चांदना और अंधेरा दोनों ही पक्ष सुन लिये। शायद हर एक प्रसंगमें ये दोनों पक्ष मौजूद होते हैं।

सत्य०—महाराज, सूर्य्यास्तका समय होरहा है । किधर घूमने चलेंगे?

महा०—अच्छी बात है ? सज्जनों, इसी प्रकार अब तो प्रति दिन चलेगा ही । चलो, नदीके तीरपर चल कर नये जलके दर्शन करें । पर्वतोंपर बर्फके पिघलनेसे पानी बढ़ रहा होगा। सत्यकाम, आसनादि लेते चलें । वहीं सन्ध्यादि करके लौटेंगे।

——:o:——

तृतीय खण्ड
धार्मिक नीतिका आधार।

सत्य०—महाराज, आपने कल वर्त्तमान कालके विचार-मन्थनका संकेत किया था। क्या कोई ऐसा भी सरल मार्ग होगा, जिसके ऊपर चल कर यह दिन रातकी कलकल शान्त हो? इस नित्यके संघर्षमें हारने वाले तो हारते ही हैं, परन्तु जीतने वालोंकी जीत भी जीत है या हारका ही दूसरा रूप है, यह विचारने योग्य रहस्य है।

महा०—भय्या, इस रगड़ झगड़ और गड़बड़से मत डरो। सोकर उठा मनुष्य अंगड़ाइयां लेता ही है। शीघ्र ही प्रत्येक जातिमें सच्चे धार्मिक और ज्ञानमय जीवनका उदय होगा। पाखण्ड दूर भागेंगे। परिश्रमके जीवनमें लोगोंकी रुचि बढ़ेगी। मुफ़तका माल उड़ानेको लोग बुरा समझेंगे। दयानतदारीका भाव बढ़ेगा। सद्धर्मका साम्राज्य होगा। विधाताके सर्वव्यापकता तथा न्यायशीलतादिसे युक्त, पर निर्गुण, निराकार स्वरूपमें जनताकी श्रद्धा बढ़ेगी। मानवव्यवहारमें प्रीति और संगठनका विस्तार होगा। मैं उस समयकी कल्पना कर सकता हूं। जब यह प्राचीन भारत फिर एक वार आध्यात्मिक ज्योतिका केन्द्र होगा।

लोक०—भगवन्, क्या अच्छा हो यदि वह चित्र वस्तुतः दिखाई देने लगे। आपका अविच्छिन्न आशावाद धन्य है। सच है, भले लोगोंको सर्वत्र भलाई ही दीख पड़ती है। पर, महाराज,

धार्मिक तथा व्यावहारिक विकास किसी विशेष विधाता अथवा उसके विशेष स्वरूपके साथ किस प्रकार सम्बन्धित होता है, यह जानना चाहता हूं। क्या ऐसे विश्वासके विना मनुष्योंका व्यवहार और परस्पर प्रेम तथा न्यायका व्यवहार ठीक प्रकारसे विकसित नहीं हो सकते?

महा०—आओ, तनिक विचारें तो सही, हमारा आपसमें सम्बन्ध है क्या? हम क्यों सुख, दुःखमें एक दूसरेका हाथ बटावें? यदि हमारे अन्दर यह विश्वास पूर्णतया जागृत होजाता है कि हम सबके अन्दर बाहिर एक अद्भुत, मायामय, सर्वप्रकारकी शक्तियों काभण्डार मौजूद है और वह हम सबसे एक जैसा प्रेम करता है, तो फिर हमारी परस्परकी नीतिमें भी न्याय और प्रेमका आजाना स्वाभाविक होजावेगा। हम सब भाई २ और बहिनके नातेसे जुड़ जावेंगे। हम सबका लक्ष्य उसी एक भगवान्‌की आराधना होगा। समान मार्गके यात्रियोंमें प्रेमका होजाना स्वाभाविक है। जब हम सबको खिलाने, पिलाने वाला वह आप है, तो हम उसके ही दिये हुए पदार्थोंकी छीन झपटमें व्यर्थ क्यों लड़ेंगे? नहीं, हमें तो अन्दरसे हर घड़ी प्रेरणा होगी कि दूसरोंकी हानिके उपाय सोचनेके स्थानपर यह हज़ार गुणा अच्छा है कि हम अपने उद्यमसे भगवान्‌के भण्डारसेही सीधा प्रत्येक पदार्थ प्राप्त करें। संसारमें किसी भी सम्पत्तिकी समाप्ति नहीं। समाप्ति संकुचित दृष्टिकी मृगतृष्णासी है। इसकी मिथ्या झलकसे मन तड़प उठता है कि "मैं भी अमुक वस्तुका भोग करलूं। कहीं ऐसा न हो, कि मेरी सुस्तीसे वह समाप्तही होजावे"। भगवान्‌का भक्त, उसकी अनन्त, अपार

विभूतिका अनुभव होनेपर, अपनी पूर्व दिनोंकी दीनताका विचार करतेही लज्जासे मुख नीचे करलेता है और उसकी आंखोंसे नीर बहने लगता है।

माया०—तो, आपका यह भाव हुआ कि यह सारी जद्दोजहद् अज्ञानका फल है । आत्मा अपने आपको मिथ्या भ्रमके कारण अपूर्ण समझकर, नाना प्रकारकी दौड़-धूपमें पड़कर सारा दुःख पाता है ।

वस्तु०—वाह २ ! यह तो फिर वही वेदान्त आने लगा ।

माया०—मैं ऐसा कब कहता हूँ। मुझे उन्हीं पुराने शब्दोंके श्रवणसे कुछ सन्देहसा पड़ गया है । मैंने तो उसे समझनेके लियेही यह बात कही है ।

महा०—हर्जकी कोई बात नहीं । वस्तुतः अज्ञानही सारे दुःखका मूल कारण है । सोचना यह है, कि अज्ञान कहां है ? जगत् मिथ्या है और इसे सत्य समझना अज्ञान है । ऐसा यहां भाव नहीं है । हमारी बुद्धिकी कल्पनासे बाहिर निकले हुए संसारके विस्तारके विषयमें तथा प्रभुकी अखण्ड विभूतिके सम्बन्धमें अल्पताका भावही अज्ञान है । इसीसे सारी घबराहट होती है और उससे सारा दुःख पैदा होता है । मत समझो, केवल दुष्कालमेंही भूखोंकी आपसमें रोटीके टुकड़ोंके लिये लड़ाई होती है । बड़ेसे बड़े सम्पत्तिशालियोंके लड़ाई झगड़े प्रतिदिन ऐसेही तुच्छ कारणोंसे होते रहते हैं । भगवान्के भक्त दूसरोंके मुंहसे ग्रास न निकालकर, स्वतन्त्र पुरुषार्थ करना अच्छा समझते हैं ।

वस्तु०—महाराज, बड़े २ ऋषियों, मुनियों और ईश्वर-भक्तोंमें भी तो लड़ाई झगड़े सुने जाते हैं, तो फिर भक्तिका लाभ क्या हुआ ?

महा०—नहीं, इसमें अन्तर है। सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे प्रत्येक व्यक्तिकी प्रकृति तीन विभागोंमें विभक्तसी रहती है। जब सत्त्वगुणका प्रकर्ष होता है, तब मनमें उजाला रहता है। मनुष्य अन्याय, अत्याचार तथा द्वेषादिसे बचता है। वह पूरा पुरुषार्थ करनेपर जो कुछ प्राप्त करता है, उसपर पूरा संतुष्ट रहता है। रजोगुणके मेलसे ही सारा पुरुषार्थ पैदा होता है। चंचलता विक्षेपका स्रोत है। जब यह प्रबल होता है, तो अन्धाधुन्ध पुरुषार्थ करते २, मनुष्य आपसमें टकराने लगते हैं। हमारे मार्गमें बाधासी पड़ती हुई दिखाई देती हैं। अब क्या होता है? यदि रजोगुणकी पीठ ठोंकनेको तमोगुणका अन्धेरा खूब छारहा हो, तो सत्य असत्य, न्याय अन्यायका कुछ विचार न करके, अपने बराबर किसीको न समझते हुए, जो मार्गमें आया, उसे ही उड़ानेकी करते हैं। घमसान संग्रामकी धूलि उड़ती है, और न मित्रका पता चलता है, न शत्रुकी ही पहचान रहती है। यह रहा हमारा साधारण प्रतिदिनका व्यवहार और उसका चित्र।

सत्य०—महाराज, तीनों गुण सदा रहते हैं। इससे यह चित्र भी सदा ऐसाही रहा है और आगे भी रहेगा। यह तो बड़ा भयानक विचार है। क्या यही बात है ?

महा०—नहीं, घबराओ नहीं। दूसरा मार्ग भी है।

उसीका अब संकेत करता हूं। यदि रुकावटके समय,रजोगुणका सहायक सत्त्वगुण हो, तो मनुष्य विचार-पूर्वक व्यवहार करता है। अपना पक्ष दुर्बल देखकर, उसका व्यर्थ मण्डन नहीं करना चाहता। उसे हार माननेमें रत्तीभर भी संकोच नहीं होता। झट शान्ति होजाती है। प्रेम-व्यवहार होने लगता है।

माया०—और, जब अपराध हो दूसरेका और वह मानेही नहीं। फिर तो लड़ाई होगी ही।

महा०—तब क्या? पापीको दण्ड न देना, उसपर भी और अपने ऊपर भी अन्याय करना है। दण्डसे पापका संस्कार और उससे पड़ा हुआ मानसिक अन्धकार नष्ट होजाता है। सद्बुद्धिका प्रकाश होता है। मनुष्यका जीवन बदल जाता है। पर कब? जब दण्ड देनेवाला सात्त्विक हो। उसीके मनमें बदलेका भाव न होकर, अपराधीके संशोधनका भाव प्रधान होगा। वही सच्चे उपकारके भावसे, आसक्ति तथा द्वेषादिसे रहित होकर, उस घोर कार्यमें प्रवृत्त होकर अपनी शान्तिको स्थिर रख सकेगा। यही ईश्वर-भक्तिका रहस्य है। इसी उच्च आदर्शका पालन करते हुए, सच्चे ईश्वर-भक्त न्याययुक्त युद्धसे कभी मुख नहीं मोड़ते। इसी सूक्ष्म तत्त्वके प्रकाशसे भगवान् कृष्णचन्द्रने अर्जुनके मोहान्धकारको छिन्न भिन्न कर दिया था। जिन ऋषियोंके लड़ाई झगड़ेकी बात करते हो, वे केवल इसी प्रकारके युद्ध तो भले करते हों। अधार्मिक युद्धोंका उनसे कराना उनका अपमान करना है। और, हो सकता है, कोई २ सिद्ध महात्मा भी अचानक तमोगुणकी घसीटमें आकर या रजोगुणके चक्रमें कूदकर कुछका कुछ कर बैठे। इससे

साधनकी त्रुटि साबित होती है। सत्त्वगुण या उसके मूल भक्ति-भावपर कोई आक्षेप नहीं आता। यह नहीं कि धर्मात्मा कभी युद्ध नहीं करता, वरन् बात यह है कि असली धर्मात्मा अत्यन्त अनिवार्य्य होनेपर और वह भी, केवल धार्मिक अर्थात् धर्मकी रक्षार्थ युद्धमें प्रवृत्त होता है।

लोक०—महाराज, कितने ही हठीले, मतान्ध लोग, दूसरे मतवालोंमें जो तनिक अग्रसर होते हैं, उनके खूनके प्यासे फिरते हैं। यह अच्छा धर्म-भाव ठहरा! संसारकी आधी अशान्ति इन साम्प्रदायिक कसाइयोंके लाल छुरोंकी ही छाया है।

महा०—आपका विचार ठीक है। पर इस अंशमें भूल करते हो, जो ऐसी घृणित चेष्टाके करने वालोंको धर्म्मात्मा कहते हो। यद्यपि वे अपने मनमें यही समझते हैं कि हम यह सब कुछ धर्म तथा ईश्वरकी प्रेरणासे करते हैं, परन्तु असलमें धर्म उनसे कोसों दूर है। सच्चा धर्मात्मा कभी विचार-भेदसे नहीं घबराता। वह तो सदा सत्य असत्यके विचारार्थ तय्यार रहता है। दूसरी पहचान यह है, कि धर्मात्मा पुरुष अपनी कल्पनाको पत्थरपर लकीर नहीं समझता। उसके मनमें कभी अहंकार पैदा नहीं होता और न वह अपने आपको सत्यका एक-मात्र ठेकेदार ही समझता है। अतः वह कभी व्यर्थ दंगा नहीं करता। सदा दूसरोंके विचारोंका आदर करता है, परन्तु वह कायर नहीं होता। अपने विचारके अनुसार समालोचना करनेसे कभी नहीं डरता। इसी प्रकार यदि दूसरे प्रकारके आततायियोंसे सामना पड़े, तो वहाँ भी निर्भय होकर तलवार चमकाना अपना कर्त्तव्य समझता है। हां दूसरोंपर प्रहारोंकी

वर्षा करते हुए भी उसका मन शान्त रह सकता है। दूसरोंके देहोंसे रुधिर-धारा बहाता हुआ भी अपने अन्दर दया ही की धाराको बहाता है। यह है सत्त्वनिष्ठ, ईश्वर-भक्तोंका भाव। इसका दीनता और कायरतासे कभी मेल नहीं हुआ। ऐसे आड़े समयोंमें जब असली चरित्रका सर्वनाश किया जारहा हो, धार्मिक संग्राम अनिवार्य्य है। उस समय भी मिथ्या दयाकी दुहाई मचानेवाले मानव-प्रकृतिसे अपना अपरिचय ही प्रकट करते हैं। दमन और शासनही उस परिस्थितिमें सच्ची दया है। दण्डके पात्रोंको अवश्य दण्ड पाना चाहिये। हां, दण्डशासकका उक्त प्रकारका सच्चा धर्म्मात्मा होना आवश्यक है। प्रिय सज्जनो, इस सारे विस्तारका यही सार है। सम्पूर्ण उन्नति, तथा तृप्तिके लाभके लिये, शान्तिके स्थापनके लिये और मानव-जन्मकी पूरी संसिद्धिके लिये ईश्वर-भक्तिका मार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। यही असल धार्मिक जीवनका आधार है। आज इसका फिर हमारे तीर्थ-स्थानोंपर उदय हो जावे, तो आज उनकी वही पुरानी शोभा चमक सकती है।

लोक०—महाराज, और जो ईश्वरको ही न मानते हों। क्या वे सच्चे धर्म्मात्मा नहीं बन सकते ?

माया०—यह खूब रही ! क्या अभी तक ईश्वरकी सत्ता भी संदेहमें ही है ?

महा०—कोई डरकी बात नहीं। इसपर भी चर्चा चलेगी। मिल बैठनेका यही तो लाभ है। विना संकोचके नये २ विचार सामने लाने चाहियें। सब मित्रोंको सूचित

तो कर देते । उपराम और शून्यानन्द क्या यहां नहीं हैं ?

मायाo—घरेलू कार्य्यपर कहीं गये थे । आज आनेही वाले थे ।

——:o:——

चतुर्थ खण्ड

विधाताका विधान ।

उपo और शून्यo—(चरणोंपर झुककर) महाराज, नमस्ते ।

महाo—नमस्ते, नमस्ते । आगये ! (दोनोंको एक २ हाथसे ऊपर उठाकर) ।

सत्यo—सुनाइए, महाशयो, कैसी रही ? कहां रहे ?

उपo—सब कुशल है । कुछ कार्य्यवश अबके प्रथमवार पर्वत-प्रदेशमें जाना मिला । मेरे लिये तो वहांका अनूठाही दृश्य था । और, विशेषतः इस समय तो वन-श्री पूरा हार शृङ्गार धारणकर सजधज रही है । पर्वत-शिखरोंके श्वेत-वस्त्र सूर्यकी किरणोंसे घुल २ कर, चारों ओर नदियों और नालोंके वेगको बढ़ा रहे हैं । इधर उधर झरने गड़ २ कर रहे हैं । नरम २ हरा घास सर्वत्र मखमलकी भान्ति बिछ रहा है । भान्ति २ के रंग बिरंगके फूलोंकी क्या शोभा है ! अहा, सुगन्धिसे सारा प्रदेश महक रहा है । जिधर आंख उठाकर देखो, सुन्दर उद्यानसा खिल रहा है । क्या शीतल पवन चलती

है ! कोसों चले जाओ, उकतानेका नाम भी नहीं । इतना विस्तार और इतना सौन्दर्य ! एक चोटी पर जाओ, तो दस और सामने उससे भी ऊंची दिखाई पड़ती हैं।

वस्तु०—बहुत भ्रमण कर आये। कितनी ऊंचाई तक चढ़े होंगे ? शून्यानन्दजी, स्मरण है उस वर्षकी व्यास-कुण्डकी यात्रा ? क्या आनन्द था ! साढ़े तेरह हज़ार फुटकी बलंदीपर वह बासी रोटियोंका खाना और मारे सरदीके पानी पीनेसे हिचकिचाना । स्नानका तो कहनाही क्या ?

शून्य०—और, सिमला जाते हुए बंजारसे ऊपरकी चढ़ाई भी क्या सुहावनी थी ? दस हज़ार फुट चढ़ गये और पता तक न लगा । तब भी बासी रोटी ही थी न ?

वस्तु०—सेब भी तो जेबोंमें डाल रक्खे थे ! उस दिन बादल साफ़ था । धूप निकल रही थी । जहां तक दृष्टि जाती थी, पहाड़ोंके सुन्दर रुपहरी, सुनहरी शिखरोंके ही दर्शन होते थे । कैलास कितना निकट दीखता था । वहां खड़े २ तो यही भान होता था कि भूमिपर संस्थर नामको भी नहीं होगा ।

सत्य०—वास्तवमें विश्वका कितना विस्तार है ? मैदानी इलाक़ेमें सफ़र करते हुए भूमिकी अन्तिम अवधि तक मैदान ही मैदान दिखाई पड़ते हैं । मरुस्थलोंके रेतके समुद्रोंका ध्यान करो, तो उनका क्या ठिकाना है ? कराची और मुंबईके ठाठें मारते हुए पश्चिमी सागरपर निगाह डालो, तो कोई पारावार नहीं । इतनी विशालता और इतना विस्तार !

उप०—मैं कुछ और ऊंचा गया था। साढ़े चौदह हज़ार फुटकी ऊंचाईपर गंगाबलकी शान्त, विशाल झील हरमुकुट स्वामीके पांव दबा रही है। बारहों महीने चारों ओर बरफ़ही बरफ़ जमी रहती है। शायद किसीने अब तक उस ऊंचे, दुर्गम शिखरपर पांव रखा हो। हम चार साथी थे और सब मारे सरदीके अकड़े जाते थे। दिन चढ़तेही नीचे भागनेकी की और कहीं रातके एक पहर गये, पचास मील नीचे गांदरबलमें पहुंचकर जानमें जान आयी। पर जातीवार, जो बराबर दो दिन वनोंकी शोभा देखी, उसका किसी प्रकार भी वर्णन न कर सकूंगा।

महा०—प्यारो, भगवान् की रचना पंजाब और भारतवर्ष तक ही थोड़ी समाप्त हो जाती है! कितने २ महान् समुद्र इस पृथिवी को घेरे हुए हैं। कितने २ महाद्वीप इस पर बसे हुए हैं। और इन सागरों और द्वीपोंमें बसने वाली सृष्टि कितनी असंख्य और चित्र, विचित्र है। क्या कोई ठिकाना है? मनुष्योंको देखो तो चकित; पशु पक्षियों, जलचरों, स्थलचरों और खेचरोंका ध्यान करो तो हैरान; कीट, पतंग कैसे २ और कितने हैं! कोई गिनती है? वृक्षों और औषधियोंके वर्ग और परिवार गिनते २ हज़ारों विद्वानोंके जीवन खप चुके हैं। और अपने गर्भमें न जाने, धरतीने क्या २ छिपा रखा है। इसके साथ ही कोसों तक विस्तृत वायुमण्डल दिन रात सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है। सूर्य भी क्या अद्भुत पदार्थ है! हमारी भूमि कितनी बड़ी है। यह भी उसके सामने रेतके कणके समान है। और वह लाखों कोसोंकी दूरीसे इसे इतना आकर्षित करता

है कि यह बेचारी दिन रात उसके इर्द गिर्द घूमती रहती है। परन्तु इतना प्रेम करनेपर भी, इसे विशेष समीपता प्राप्त नहीं होती। बात भी ठीक है। सूर्य भगवान् पुराने ढर्रेके प्रतीत होते हैं। पृथिवीसे अनन्य साधारण भक्तिकी आशा करते हुए, स्वयं स्वेच्छाचारी रहना चाहते हैं। कितनी ही इससे भी बड़ी बड़ी भूमियां इसीकी तरह इस देवताकी आराधना कर रही हैं। यह तो आर्तीके लिये थालीमें एक ही चन्द्ररूपी दीपकको जगाती है, पर इसका दिल दुखानेको अन्यत्र चार २ चांद भी लग रहे हैं। पर यहीं पर कौनसी समाप्ति है? सारे सौर जगत्को लेकर, स्वयं सूर्य शायद किसी और बड़े भानुकी महिमा गा रहा है। और कौन कहे, ब्रह्माण्डमें ऐसे और इससे भी बड़े कितने और सौर जगत् मौजूद हैं। दिनके समय भले ही प्रतापी सूर्यके प्रकाशमें आंख कुछ और न देख सके, पर रात्रि होते ही भेद खुलने लगता है। ग्रहों और नक्षत्रोंके परिवारोंका तांता लग जाता है। ये स्याहीमें सुफेद बिन्दु क्या हैं? ये सब विशाल लोक हैं। इनमें कुछ तो सूर्यके समान स्वयं प्रकाश हैं। शेष हमारे इस लोकके समान इन सूर्य्योंके द्वारके भिखारी हैं। करोड़ों इतने दूर हैं कि बिन्दुओंकी तरह भी अलग २ दिखाई नहीं देते। बस, दूध-गंगासी आकाशमें बहती हुई प्रतीत होती है।

सत्य०—महाराज, इस बाहिरके विस्तारके साथ २ प्रत्येक पदार्थकी अन्दरकी रचना कितनी सूक्ष्म और कितनी हैरान करने वाली है! पत्ते २ में आश्चर्य्य भर रहा है।

माया०—लोग तो कहते हैं, अब विज्ञानने कमाल कर

रखा है। सब भेद खोल कर रख दिये हैं। सब दिशाओंमें उन्नति ही उन्नतिका चमत्कार है।

महा०—इसमें क्या सन्देह है! पर याद रखो, विज्ञानके द्वारा ऐसी नवीन रचना कभी नहीं हुई, जिसका मूल ब्रह्माण्डमें किसी न किसी रूपमें पूर्व ही विद्यमान न हो। मनुष्योंसे पूर्व पक्षियोंने वायुपर वश किया हुआ है। हमारे विज्ञानकी सहायताके विना ही लोक, लोकान्तर आकाशमें स्थिर गतिको करते हैं। हमारी नौकाएं पीछे बनीं। बड़ी २ ह्वेल मछलियां पूर्वसे ही सागरोंको चीरती फिरती हैं। विज्ञानका क्या उपकार है? इसने इन विद्यमान पदार्थोंकी रचनाको समझाकर, मनुष्यमें उनके अनुकरण द्वारा अद्‌भुत बलको पैदा करदिया है। चश्मा लगाकर दृष्टिका उपकार करने वाला बुद्धिमान् है, पर विधाताकी बुद्धिका क्या कहना, जिसने विना हमारे संकेत या सहयोग के, आंख, कान आदिकी परम सूक्ष्म रचना कर रखी है। देहके अन्दर नाड़ियोंका क्या सूक्ष्म ताना बाना कर रखा है। पर्दोंके अन्दर पर्दे क्या कारीगरीसे जोड़े गये हैं। कितने स्थानोंपर कितने प्रकार के स्वाभाविक रस चू २ कर अंगोंकी पुष्टि करते और यन्त्रकी सारी क्रियाओंको चालू करते हैं। बहुत खूब! हमें तो अन्दरका खयाल ही तब आता है, जब हमारी ही किसी असावधानीसे कलामें कुछ विकार पैदा होता है। पूर्ण स्वास्थ्यकी दशामें तो यह स्वयमेव चलती रहती है। कितने आश्चर्य्यकी बात है कि असंख्य छोटेसे छोटे जीवनकोष मिलकर इतना नियमपूर्वक सब काम कर रहे हैं। केवल मस्तकके अन्दर ही कोई पांच छः अरब ऐसे अवयवोंकी कल्पनाकी गई

है । नाम लेना आसान है । सोचो, इसका भाव कितना गहरा और चकित कर देने वाला है । ऐसा जान पड़ता है, विज्ञान तो हमारे अज्ञानको प्रसिद्ध करके हमें अपमानित करता है । विद्याके प्रत्येक विभागमें, बुद्धि कुछ दूर तो जाती है, पर फिर एकाएक टक्कर खाकर चकराने लगती है । जैसे आंख, कान आदिकी गति एक सीमापर जाकर रुक जाती है, ठीक वैसे ही बुद्धिकी दौड़की भी अवधि है । यह और बात है कि हमारी और आगे जानेकी इच्छा बनी रहे ।

लोक०—महाराज, क्या यह विशाल और अद्‌भुत रचना ऐसे ही चली आती है या इसका कोई आरम्भ भी है ।

महा०—वाह ! तुमने तो अभी बुद्धिकी गतिकी परीक्षा करनेकी ठानी है । कोई डर नहीं, विचार तो करें । एक बात तो देखनेमें आरही है । यहां केवल बनना ही बनना नहीं, वरन् बिगड़ना भी साथ ही है । पदार्थ प्रकट होते हैं और वृद्धिको प्राप्त होते हैं । कुछ काल स्थिरसे प्रतीत होकर घटने लग जाते हैं । और शनैः २ लोप होजाते हैं । इनका अभाव नहीं होता, केवल अदर्शन होजाता है । और वह भी, उसी रूपमें, क्योंकि वही अवयव जुड़ जुड़ाकर नये रूपमें फिर उपस्थित होजाते हैं । इस प्रकार वास्तवमें न कुछ बनता है और न बिगड़ता है । केवल जोड़ तोड़ होता रहता है । असंख्य सूक्ष्मसे सूक्ष्म अणुओं और परमाणुओंका संयोग वियोगका सिलसिला बना रहता है । अधिक मिल जाते हैं, तो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने लगते हैं । कम होजाते हैं, तो उनकी पहुंचसे परे चले जाते हैं । केवल प्रत्यक्षके केन्द्र बदलते रहते हैं । अब यहां कुछ दीख पड़ता है

और अभी स्थान खाली सा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें खाली कोई स्थान नहीं। झरोखेसे आने वाली किरणोंमें असंख्य कणके नाचते हुए दिखाई देते हैं। वे वहीं होते हैं, परन्तु झरोखा बन्द कर देनेसे या बादल वाले दिन किरणोंके प्रकाशके न होनेसे, दिखाई नहीं देते। इसलिये वस्तुतः सोचें, तो उत्पत्ति और विनाश देखने वालों और अनुभव करने वालोंकी अपनी शक्तिपर भी बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। विश्वव्यापिनी गतिका अनिवार्य्य फल यह अवश्य है कि परिवर्त्तन–चक्र दिन रात चलता है। यही संसार–शब्दका भी भाव है। बरफ़से पानी, पानीसे भाप, बादल, कोहरा आदि और फिर बरफ़ और पानीका चक्र जारी रहता है। दिन रात और ऋतुओंका परिवर्तन भी इसी प्रकार होने वाले सगरे संसारके परिवर्तनका ही संकेत करता है। सार यह है, कि न कोई नयी वस्तु पैदा होती है और न किसी पुरानीका अत्यन्त अभाव हो सकता है। रूप बदलते हैं, आकार बदलते हैं, या देखने वालोंकी दृष्टिका भेद होजाता है। अथवा प्रकाशादि अन्य साधनोंमें भेद पड़ जाता है। यही जन्म, मृत्युका रहस्य है। यह सारी इन्द्रजालकी सी प्रतीति है। यह सर्वथा मिथ्या भले न हो, पर जितना इसे महत्त्व देकर मनुष्य दुःखी होता है, वह अवश्य मिथ्या है। वस्तुतः न मृत्युमें कोई भयका कारण होना चाहिये और न जन्ममें विशेष हर्षका कोई अवसर है। ये भाव दार्शनिक नहीं हैं। इनका मनुष्यके सामाजिक इतिहास तथा परिस्थितिसे ही विशेष सम्बन्ध है। अस्तु, यह दूसरा प्रकरण है। अभी इसे यहीं तक रहने दें।

वस्तु०—वैज्ञानिकोंका भूगर्भादि विद्याओंके आधारपर यह निश्चय सा है कि आजसे अरबों वर्ष पूर्व यह पृथिवी आदि लोक सूर्यके साथ, एक अत्यन्त चमकदार, भड़कते हुए अग्निपुंजके रूपमें बड़े वेगसे आकाशमें घूमते थे। उसी गोलेसे अनेक टुकड़े इधर उधर बिखरकर, लोक, लोकान्तरोंके रूपमें उसी केन्द्रके इर्द गिर्द घूमने लग गये । यही सूर्य वह केन्द्र है।

उप०—यह भी तो उनका भाव है कि जिस प्रकार गर्मीके शनैः २ कम हो जानेसे पृथिवी आदि लोक ठण्डे पड़ गये हैं, वैसे ही सूर्य भी शनैः २ ठण्डा होरहा है। उसके अत्यन्त अधिक परिमाणके कारण अभी तक विशेष कमी प्रतीत नहीं हुई। परन्तु समय आने वाला है, जब भौतिक गर्मी इतनी कम हो जावेगी, कि सब लोक जीवन-रहित हो जावेंगे। जैसे ये लोक सूर्यसे अलग २ हुए हैं, ऐसे ही एक समय आ सकता है, जब सूर्यके और अवयव हो जावें और फिर उन अवयवोंके भी टुकड़े २ होकर, सारा विधान छिन्न भिन्न हो जावे।

महा०—यह भी व्यर्थकी चिन्ता है। इन टुकड़ोंको दूसरे और जगत् खींच कर अपने में मिला सकते हैं, अथवा ये स्वयं घूमते २ कभी आकर नये संघातको पैदा कर सकते हैं। यह संभव है कि इन ठण्डे पड़े हुए भूगोलोंका ही समय पाकर एक पिण्ड सा बन जाता हो और वेगके बढ़ जाने से ताप और फिर प्रकाश पैदा होकर वैसे ही संसार का आरंभ हो जाता हो।

शून्य०—यदि एक सौर जगत्में जा मिलता है, तो दूसरेका इतिहास भी तो वैसी ही रामकहानी सुनावेगा। उसके भी टुकड़े २ होते होंगे ?

महा०—इसमें हर्ज ही क्या है? जितने सौर जगत् हैं, उनमें ऐसा होना ही चाहिये। यही तो इस विधानकी महिमा है। सर्वत्र समानभावसे नियम चरितार्थ होने ही चाहियें। पर वे जगत् हैं कितने? यह हमसे मत पूछिएगा। हम कैसे जानें? भगवान् अनन्त होने पर भी एक है। उसकी रचना विभागोंके अनन्तर होने पर भी, सामष्टिकरूपसे एक ही है। यही भाव विश्व या ब्रह्माण्ड, इन शब्दोंसे प्रकट किया जाता है। शायद एक समय ऐसा भी आता हो, जब इस समष्टिमें भी गर्मी कम होकर, सारा संसार सो जाता हो। भू-खण्डोंकी गतिभी रुक जाती हो। गतिका मूल आकर्षणका ही न्यूनाधिक होना होता है। और यह पिण्डकी सापेक्ष छुटाई बड़ाई पर निर्भर है। जब वियोग होते २ संसारकी अवस्था परमाणुओंसे भी परे, परम, अव्यक्त तक जा पहुंचती होगी, तो यह आकर्षण भी बन्द हो जाता होगा। उसी प्रशान्त दशाको प्रलय कहते हैं। यह एक मार्ग है जिस पर चलते हुए, सर्ग और प्रलयकी कल्पना कुछ खुलतीसी प्रतीत होती है। पर क्या जानें, इसमें भी अभी कितनी उलझनें हैं?

महा०—महाराज, आज आप निश्चयात्मकरूपसे नहीं बोल रहे। साम्प्रदायिक लोग तो प्रतिदिन इन्हीं बातों पर वाद, विवादोंमें जुटे रहते हैं।

महा०—बेटा, यह वह विषय नहीं, जहां पर इससे अधिक स्पष्ट हो सकना ज्ञानकी वर्त्तमान दशामें संभव हो। संभव है, आगे चल कर भगवान्की कृपासे ज्ञान और बढ़ जावे।

मतवालोंके झगड़े केवल अविद्या और अन्धकारकी उपज समझो। यह उस गंभीर तत्त्वकी पर्य्यालोचना है, जिसका विचार करते ही जिह्वा तालुकी ओर खिंच जाती है। प्यारो, हम चलते २ बीहड़ जंगलमें आ निकले हैं। दोपहरको भी यहां अमावस्या बनी रहती है और उल्लू निर्भय होकर बोलते हैं। इसमें से निकलनेको तंग पगडण्डी अवश्य है, पर उसके एक बाज़ूपर नीचेको अतल पाताल है, और दूसरे बाज़ूपर ऊपरको आकाशसे बातें करती हुई सख़त चटान है। नीचे गिरनेके भय से दूसरे बाज़ू दबाकर चलते हैं, तो चटानसे माथा फूटनेका भय बना रहता है। जो छोटासा मार्ग है, उसे भी लंबे २ जंगली घासने ढांप रखा है। इसलिये, सज्जनो, यहां चुप ही भली। लिखने वाले लिख गये, पढ़ने वाले पढ़गये। पर तेलीके बैलकी नाईं, बुद्धि अभी तक उस चक्रमें ही घूम रही है।

——:o:——

पंचम खण्ड

विश्व और उसकी विधारक सत्ता।

माया०—महाराज, कलकी बातोंको सोचते २ वस्तुतः मार्ग नहीं मिला। रात्रिको सोये २ भी इन्हीं विचारोंमें मन नाचता रहा। इतना रहस्यमय, अद्भुत, विशाल और सूक्ष्म संसार-चक्र! भगवन्, यह कैसे चलता है?

लोक०—सूर्य तथा अन्य लोक, लोकान्तरोंका परस्पर आकर्षण इसे निरन्तर चलाने और घुमानेके लिये पर्य्याप्त कारण नहीं है?

महा०—ठीक है। पृथिवी सूर्यको और सूर्य पृथिवीको धारणकर रहा है। इस सूर्य और इसके जगत्को कोई अन्य सूर्य और उसे और इसके जगत्को कोई अन्य सूर्य। इसी प्रकार क्रम चलता २ कहीं समाप्त भी होगा? हमारी पहुंचसे अनन्तगुणा बड़ा हो, पर जो कुछ है, वह सारा संसार समुदायरूपसे, समष्टिभावसे एक संघात है। वह किस प्रकार धारण होरहा है? आकाशमें वह धारण होरहा है, तो कैसे? और आकाशको भी उसी महासंघातके अन्दर शामिल करके विचार करें, तब कैसे? यह ठीक है, एक सौर जगत्का विचार करते हुए, उसके भिन्न २ अंगोंको केन्द्रके आकर्षणद्वारा तुले हुए देखकर यह संभव प्रतीत होता हो, कि किसी अन्य धारककी कोई आवश्यकता नहीं। परन्तु यह क्षणिक सन्तोष है। तनिक गहरा सोचनेसे यह भ्रम प्रतीत होगा।

वस्तु०—महाराज, जैसे एक सौर जगत्के भिन्न २ अवयव परस्पर तुले हुए हैं, इसी प्रकार इस सारे विश्वके भिन्न २ अंग भी तुले हुए समझ लें, तो क्या हानि है?

महा०—हानिकी क्या बात है? सारे संघातका विचार करके, मनमें बात बिठानेका यत्न करो। क्या इस अपने अन्दर अच्छी तरह तुले हुए, सौर जगत्को अन्य सौर जगत् अपने आकर्षणद्वारा एक प्रकारसे धारण करता है या नहीं?

माया०—स्पष्ट करता है। वैज्ञानिक लोग अनेक सौर जगत् स्वीकार करते हैं।

लोक०—यदि ब्रह्माण्डके अन्दर अनन्त सौर जगत् मान लें, तब कैसा रहेगा ?

सत्य०—यह अच्छी रही! भला कभी एक पदार्थके अनन्त विभाग भी हुआ करते हैं ? लाख हों, करोड़ हों, करोड़ करोड़ हों या उसके भी करोड़ करोड़ हों, वस्तुतः अनन्त नहीं हो सकते।

उप०—इसमें क्या प्रमाण है कि ब्रह्माण्ड, संसार या विश्व एक है ?

महा०—भोले भाई, संसार समुदाय-वाचक अथवा संघात-वाचक शब्द है। प्रत्येक व्यक्ति, विद्वान् हो या मूर्ख, वृद्ध हो या बाल—इसका प्रयोग करता हुआ सामने दिखाई देने वाले संसारकी एकताको स्वीकार करता है। योग्यता और अनुभवसे क्या अन्तर पड़ता है ? मूर्ख अपने गांवसे सौ गावोंकी कल्पना करके, उनके विस्तारको संसार कहता है, तो विद्वान् उससे बहुत बड़े विस्तारका नाम संसार रखता है। विद्याकी वृद्धिके साथ संसारके विस्तारमें भले भेद पड़े, उसकी एकतामें भेद नहीं पड़ सकता। और यह बात भी ठीक है कि किसी एक संघातके, चाहे वह कितनाही बड़ा क्यों न हो, अनन्त विभाग नहीं हो सकते। हम उनकी गिनतीको न कर सकें, हम उनका ध्यान न कर सकें, हम उनको पृथक् २ करके प्रत्यक्ष न कर सकें, यह सब कुछ ठीक होनेपर भी विभागोंकी संख्या वस्तुतः अनन्त नहीं हो सकती। हम इस शब्दका प्रयोग करते हुए

यही प्रकार हैं कि वहां हमारी गति नहीं है। जब यह बात मनमें बैठ गयी, तो अब विचार करो कि जैसे हमारे इस अपने अन्दर तुले हुए सौर जगत्को अकाशमें स्थिति और गति, दोनोंहीके लिये अन्य आकर्षकोंकी अपेक्षा बनी रहती है, क्या वैसे ही इस 'अनन्त' सौर जगतोंके संघातरूप, ब्रह्माण्डको भी किसी अपनेसे भिन्न और वाह्य आकर्षककी अपेक्षा न होती होगी ?

शून्य०—महाराज, सब पदार्थ तो ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हो गये। अब और कौनसा पदार्थ बाहिर रहा, जो इस संघातको धारण करता होगा ?

महा०—यही तो आज विचार करना है। शायद यह संभव नहीं कि हम उस परम धारक शक्तिको अपनी साधारण शक्तियोंसे प्रत्यक्षकर सकें, परन्तु हम उक्त प्रकारसे उसकी आवश्यकताको ही यदि अनुभव करने लग गये, तब भी, समझो, हमारा पुरुषार्थ सफलही है। हम ठीक मार्गपर तो पग धर रहे होंगे। सज्जनो, अभी इस प्रश्नका भी केवल एक रूप ही हमारे सामने आया है।

वस्तु०—किस प्रश्नका, महाराज ?

उप०—वाह जी, आपने तो हमारा स्वरूप धारणकर लिया ! थे हम 'उपराम', पर बन आप रहे हो।

सत्य०—सचमुच इस विचार-सागरमें एकवार पांव रखनेकी ही देर होती है। बस, फिर तो जिस किनारेपर खड़े थे, वह छूटा और दूसरा तो है ही कहां ?

माया०—आपका संकेत संघातके धारणकी ओर ही तो है ?

महा०—सुनो, सुनो, घबराओ नहीं। कठिन विषय घबराहटसे और कठिन होजाता है। मन जिस केन्द्रपर जमा होता है, उससे उखड़सा जाता है। अच्छा तो, फिर एकबार अपने इसी सौर जगत्का ही उदाहरण अपने सामने लाते हैं। इस समय तो भला यह कहा भी जावे कि पृथिवी, मंगल, बुध आदि सूर्यके साथ आकर्षण द्वारा ख़ूब तुल रहे हैं, इन्हें किसी अन्य धारक शक्तिकी कोई अपेक्षा नहीं।

लोक०—और, महाराज, बात कुछ है भी ऐसी ही। वैज्ञानिकोंने और असंख्य सूर्यों तथा लोकोंकी कल्पना ही तो की है। क्या पता, वे हैं भी या कि नहीं? यदि वे नहीं हैं, तो यह सौर जगत् ही ब्रह्माण्ड रहा और यह अपने अन्दर तुल ही रहा है।

शून्य०—और, इसमें भी पृथिवी, चन्द्र और सूर्यके अतिरिक्त और कोई अवयव हैं या नहीं, इसका भी क्या पता? हमें तो केवल इन्हीं तीनका ही प्रतिदिन परिचय होता है।

वस्तु०—और, वह भी चांदने पक्षमें ही। अमावस्यापर तो चांद भी निकल ही जावेगा।

सत्य०—वाह भई वाह! यदि यह बात है, तो जब सावन अच्छा लग रहा हो, कई २ दिनकी झड़ी लगी रहती हो, सूर्यका भी तो क्या भरोसा होगा? दूर क्यों जाओ, रातको ही सूर्यका क्या पता रहता है?

महा०—लोकेशजी, आपके साथियोंने तो आपको कहांका कहां पहुंचा दिया! निश्चय जानो, यदि मनुष्य केवल अपने प्रत्यक्षके बलपर ही निर्वाह करना चाहे, तो एक क्षण भी

जी सकना कठिन हो जावे। इसी लिये विचारकोंने इन्द्रिय-प्रत्यक्षके साथ और कहीं उससे भी बढ़कर अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि भेदोंके कारण अनेक नामवाली, परन्तु मौलिक अभेदके कारण एक नामवाली, तर्क-शक्तिको भी प्रमाण माना है। इससे भी आगे चलकर, भौतिक प्रत्यक्ष और उसपर आश्रित तर्कको भी खड़खड़ाता हुआ पाकर, अनुभवियोंने आत्म-अनुभवको ही सर्वोत्तम प्रमाण माना है। उसे ही आध्यात्मिक साक्षात्कार कह सकते हैं। इन साक्षात्कारियोंके ही अपने अनुभवके वर्णनका शब्द-प्रमाण है। संसारमें प्रवेशके साथ प्रत्यक्षका प्रमाण-पत्र आता है। विद्या-मन्दिरमें दीक्षित होनेपर तर्कका द्वार खुलता है। उसमें पूर्ण प्रगति पाकर भी असन्तुष्ट रहनेपर शब्द प्रमाणका द्वार खटखटाया जाता है।

लोक०—तो क्या अनेक सूर्यों तथा लोकोंका भी इसी प्रकार विश्वास करना होगा?

महा०—नहीं, इनके जाननेके लिये बहुत दूर नहीं जाना पड़ता। प्रत्यक्षकी शक्तिको वैज्ञानिक उपायों द्वारा बढ़ानेसे और तर्कको साथ मिलानेसे, ज्यौतिषका आरम्भिक छात्र भी जान गया है कि सौर जगत् कितने लोकोंका संघात है। दूसरे सौर जगतोंका भी परिचय इन्हीं दो साधनों द्वारा प्रतिदिन बढ़ रहा है। अरे भाई, रात्रिके समय आकाशपर निगाह डालते ही भेद खुल जाता है। हां, ज्यों २ विद्या अधिक होती है, यह भेद भी अधिक खुलता है। बलिहार जावें विद्वानोंके परिश्रमपर, जिन्होंने एक २ करके संहस्रों लोकोंके विषयमें हमारा परिचय बढ़ाया है। इसी लिये मैं कह रहा था कि उदाहरणके

लिये अभी केवल इस सौर जगत्का पुनः विचार करो। इस समय इसके अंग परस्पर तुले हुए हैं। परन्तु उस समयका चित्र अपने सामने लाओ, जब पृथिवी, मंगल आदि अभी पृथक् नहीं हुए थे। भड़कीला, अग्निमय गोला बड़े वेगसे घूम रहा था। उस समय वह किस प्रकार आकाशमें तुला हुआ था? उस समय वह अभिन्न, एकरूप था।

सत्य०—महाराज, जैसे इस सौर जगत्का मौलिकरूप वह गोला था, ऐसे ही दूसरे सौर जगतोंके भी तो गोले होंगे? वे परस्पर खींचते होंगे।

महा०—अब और तनिक आगे चलो। एक वह भी समय होगा, जब वे भिन्न २ छोटे गोले, एक सबके केन्द्र, सबके मूल, अति महान् गोलेमेंसे फटे होंगे। उस समयका ध्यान करो, जब वह गोला ही गोला था। न यह सौर जगत् अलग हुआ था और न इसके साथी। सूर्य, ग्रह, नक्षत्रका भेद तो और भी पीछेका है। इस विशाल, अद्भुत और हमारी बुद्धिकी अपेक्षा अनन्त ब्रह्माण्डके उस मौलिक (ब्रह्म-अण्ड) गोलेकी धारणा कैसे हो रही होगी? वह कैसे तुला होगा और कैसे अनवरत घूमता होगा? क्या उसे इस प्रकार वेगसे नचाने वाला कोई था? यदि था, तो वह अवश्य उससे भिन्न था। साथ ही वह अदृश्य तथा अव्यक्त, गुप्त था। रूप स्थूलताका साथी है और स्थूलताका अर्थात् संघात बन जाता है। यदि कोई और सत्ता थी, तो वह संघातका परिणाम न होनी चाहिये। नहीं तो, उसे धारण करने वाली कोई और शक्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार

चलते २ अन्तमें एक शुद्ध अर्थात् संघातके भावसे रहित, सर्व-व्यापक सत्तापर जाकर इस विचारको प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

सत्य०—महाराज, आप यह क्यों नहीं कहते, ऐसी सत्ताको अवश्य मानना पड़ेगा। सन्देहकी भाषामें क्यों संकेत करते हो?

महा०—प्यारे, मैं पूर्व कह चुका हूं, यह वह विषय है, जहांपर किसी स्थूल नेत्रोंसे ही देख सकने वाले व्यक्तिको पूर्ण निश्चयात्मक घोषणाका अधिकार नहीं। उक्त प्रकारके विचारको सामने रखकर बुद्धिको रगड़ रहे हैं। इस रगड़से प्रकाश पैदा होगा। और मार्ग आगे सूझेगा। अन्तमें मार्ग इतना विशाल हो जावेगा और आत्मिक सूर्यका इतना चमकीला प्रकाश हो रहा होगा कि फिर न इस रगड़की अपेक्षा होगी और न मार्ग-प्रदर्शक बुद्धिके प्रकाशकी। उस समय न कोई सन्देह शेष रहेगा और न ही कोई असमाप्त वासना हृदयको तड़पा सकेगी। यह हो सकता है, उक्त विचारको हमसे योग्य विद्वान् ऐसे रूपमें उठावें कि किसी निरपेक्ष धारक सत्ताकी आवश्यकता ही प्रतीत न हो। इसलिये, मैं अपने हृदयके स्वामीको भक्तिके उस विशाल भवनमें स्थापित करना चाहता हूं, जिसकी दीवारें इस प्रकारके विचारोंपर ही आश्रित न रह कर उस आध्यात्मिक अनुभवपर खड़ी हों, जहां फिर कोई युक्ति और तर्क उठानेकी आवश्यकता ही प्रतीत न हो। परन्तु अभी इस मार्गपर पग धरते ही, हमें इस प्रकारके अनुभवकी प्राप्ति नहीं होसकती। हमें साधारण तर्कके मार्गपर अवश्य चलना होगा। परन्तु उसपर चलते हुए, उसकी अपूर्णताका ध्यान रखना

चाहिये। इसीलिए मैं विचार उठाता हूं और परिणामकी ओर थोड़ा सा संकेत किये जाता हूं। यह संभव है कि प्रत्येक संकेत जो स्वयं अधूरा है, अनेक संकेतोंके साथ मिलकर अच्छे खासे निश्चयका सूचक भी बन जावे। परन्तु यह कार्य धैर्य्यका है। शनैः २ मार्ग साफ़ करते जावेंगे, तो एक दिन अवश्य किसी रम्य स्थानपर भी पहुंच जावेंगे।

वस्तु०—धन्य है आपका स्वभाव ! इतना अनुभव और इतनी अनहंकार-वृत्ति !!

सत्य०—सचमुच इस स्वभावके अभावके कारण ही तो नित्य नया बखेड़ा खड़ा होजाता है। मुझे कभी समझ नहीं आया कि इन गूढ़ बातोंपर भी क्या दाव लगाकर शास्त्रार्थ किये जाते हैं ? और इसपर भी यह और मज़ेकी बात, कि लड़ने-वालोंके शास्त्र भी बिलकुल अपने २ होते हैं। उनके शब्द अलग और परिभाषायें अलग, सब कुछ अलग—और फिर जुट जाते हैं। भला, ऐसे भी कभी सत्य असत्यका निर्णय होता है ? चर्चा या तो एक ही शास्त्रके मानने वाले वादियोंकी होसकती है या उसका आधार केवल तर्क होनी चाहिये। दोनोंकी खिचड़ीसे बड़ा अनर्थ हो रहा है।

लोक०—इसीलिये तो झट गालियोंपर उतर आते हैं। सम्प्रदाय चलाने वालोंको वह २ सुनाते हैं, कि वहांसे चलते ही भला। धर्मप्रचार क्या हुआ, असभ्यताकी दुहाई ठहरी।

उप०—तो क्या ज्ञान, विज्ञानकी चर्चा बन्द होजावे ?

शून्य०—यह कौन कहता है। शास्त्रार्थ और चर्चा अवश्य जारी रहें। परन्तु करने वाले अपने और दूसरेके मतके अच्छे

विद्वान् हों। अब तो कई वार ऐसा होता है कि बोलने वाला दूसरोंके दो चार छिद्र तो जानता है, पर अपने घरका उसे कुछ पता नहीं होता। आज इन चर्चाओंमें न जिज्ञासा पाई जाती है और न सत्यासत्यके निर्णयकी इच्छा। दोनों वादियोंकी पीठ ठोंकने को दस बीस लठबन्द और साथी आ डटते हैं। दोनों अपनी २ कह कर, अपने २ मतका जयकार करते हुए चले जाते हैं। कई वार वाणी-संग्राम हो चुकनेपर लाठियों और जूतियोंकी बारी भी आती। झूठ, छल, कपट, सभी साधन काममें लाये जाते हैं।

उप०—हमें तो समझ नहीं आता कि ऐसी स्थितिमें किया क्या जावे?

महा०—(हंसकर) निराश होनेकी कौनसी बात है? लोगोंने करना वही है, जिधर उन्हें रुचि होगी। बुद्धिमान् लोगोंका यह कर्त्तव्य है कि जनताकी रुचिको सदा स्वस्थ विचारों, शुद्ध आचारों और निष्कपट व्यवहारोंमें बढ़ाते रहें। यदि वे स्वयं गढ़ेमें गिरा रहना ही पसंद करेंगे, तो जनता बेचारीका रखवारा कौन? धर्म-प्रचारको सदा उच्च कोटिके महात्माओंके हाथमें रहना चाहिये। धर्म जीवनकी धारण-शक्तिका संकेत है। जो साधुजन शुद्ध ही विचारते और शुद्ध जीवन ही धारण करते हों, उन्हींके मुखसे धर्म-प्रचार शोभा देता है। धार्मिक जीवनसे सुशोभित ज्ञानका प्रकाश ही मानव समाजका उद्धार कर सकता है। जहां तक ज्ञान-वृद्धिका विषय है, उसके लिये प्रत्येक मत वालेको उचित प्रबन्ध करना चाहिये। इस बातमें प्रत्येक मत वालोंका हित है कि उसके प्रतिनिधि पूर्ण

विज्ञ हों । अधघड़, अशिक्षित, मर्मको न समझने वाले, अनुभवरहित, आग्रही, हठी, दूसरोंपर व्यर्थ उपहास करने वाले और सामग्री समाप्त होनेपर असत्यका प्रयोग करने वाले लोग वस्तुतः अज्ञानकी ही वृद्धि करते हैं। उस समयके लिये वाह २ होनेपर भी, किसी स्थिर फलकी आशा न करनी चाहिये। धर्म-प्रचार और ज्ञान-प्रकाशका सब योग्य, अनुभवी सज्जनोंको संसारके उपकारार्थ पूरा अधिकार है। परन्तु जो इस समयकी स्थिति है, इसका सुधार यदि आप करना चाहते हैं, और आपमेंसे प्रत्येकका कर्त्तव्य है कि आप करें, तो आपको स्वयं उक्त प्रकारसे योग्य प्रचारक बनना चाहिये । किसी बातके करनेके उपायको सौ वर्ष समझाते रहनेकी अपेक्षा कहीं यह अच्छा होगा कि हम स्वयं उचित प्रकारसे उसे सिद्ध करके दिखावें। यदि कुछ लोग ऐसी धारणासे युक्त होकर, सद्विद्यासे सुभूषित होकर, तप और त्यागसे सुसज्जित होकर, लोकोपकारका व्रत धारण करें, तो वे जहां इतिहासमें श्रद्धा-पूर्वक स्मरणीय नाम छोड़ जावेंगे, वहां अपना भी परमोपकार सिद्ध करते हुए, मानव-जन्म सफल करेंगे। आज साम्प्रदायिक मतान्धोंने अनेक प्रकारका अनर्थ ढा रखा है। चारों ओर अशान्ति है । सच्चा धर्म पंख धारण करके उड़ा जारहा है। चारों ओर लूट सी मच रही है । ऐसे आड़े समयमें, उपराम जी, आपको भी उपरामका त्याग करना ही उचित है । जाओ, आज जहां विश्व-विधारक शक्तिका चिन्तन करते हुए, कल उससे आगे सुननेके लिये तय्यारी करो, वहां अपने अन्दर टटोलकर मानव-समाजकी विधारक-शक्तिके बीजको भी

तलाश करो । तुम्हारे सबके अन्दर वह बीज मौजूद है । मैं इसे अनुभव करता हूं, पर उसके लिये हृदयोंमें अभी उचित क्षेत्रोंके बनानेमें कुछ कमी है ।

सत्य०—भगवन्, आपकी ऐसी ही दया-दृष्टि बनी रही, तो आपकी आशाएं अवश्य एक दिन फलवती होंगी ।

——:०:——

षष्ठ खण्ड

विश्व और उसकी प्रेरक सत्ता ।

लोक०—महाराज, आपने उस दिन प्रलयके स्वरूपका कुछ वर्णन किया था । वह भी बड़ी विचित्र अवस्था होती होगी ?

वस्तु०—उसके लिये 'विचित्र' शब्दका प्रयोग ही क्योंकर हो सकता है ? विचित्र भेद प्रभेदका वाचक होता है । प्रलयमें संघात छिन्न भिन्न होकर, सारा विश्व अत्यन्त सूक्ष्म दशामें सोया सा होता है । परमाणुओंके भी आगे अव्यक्त अवस्था है । उसमें सब कुछ लीन होजाता है ।

लोक०—क्या परमाणुओंके भी टुकड़े होजाते हैं ?

वस्तु०—इसमें क्या सन्देह है ? प्राचीन दर्शनकारोंमें भी परिणामवादी सांख्यने सबके मूलमें तीन गुणों वाले सर्वत्र व्यापक अव्यक्तको ही माना है । आजके वैज्ञानिकोंने भी पदार्थोंके विभाग करते २, मूलमें प्रोटोन और इलेक्ट्रोन नाम

वाले, अनन्त शक्तिके दो प्रकारके असंख्य केन्द्रोंको ही माना है। कई एक उससे भी आगे केवल उसी शक्तिको ही मानते हैं।

महा०—यहां प्रश्न तो यह पैदा होता है कि यह सारा क्रम-विकास प्रेरित कैसे होता है। हमने देखा कि जो संघात से रूपमें सकल पदार्थ दिखाई देते हैं,उन सबका अपनी अवधिपर टुकड़े २ होकर अव्यक्त दशाको प्राप्त हो जाना स्वाभाविक है। दूसरी ओरसे हमने देखा कि वर्त्तमान विस्तृत जगत् आरम्भिक महासंघात, अग्निस्वरूप गोलेके टुकड़े २ होनेका परिणाम है। विचारकी बात यह निकली, कि इस विश्वमें अव्यक्तसे क्रम-विकास द्वारा वह गोला बनता होगा, गोलेसे यह सृष्टि और इसके क्रम-विभागसे पुनः वही अव्यक्त। अब अव्यक्त अथवा प्रलयकी अवस्थामें क्रम-विकासका आरम्भ कैसे हो?

सत्य०—महाराज, उस समय भिन्न २ विभागोंका आपसमें आकर्षण भी तो होता होगा? उसीसे क्या काम नहीं चल सकता?

महा०—अभी तो कह आये हैं कि उस दशामें विभागों और भेदोंकी कल्पना भी तो कठिन है। एकाकार, सर्वव्यापक, मूलप्रकृतिको मानकर, किसका किसके प्रति आकर्षण मानें? और, यदि सूक्ष्म परमाणुओंको ही मानें, तो भी उनमें आकर्षणकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

उप०—यह, महाराज, कैसे?

महा०—वे सूक्ष्म परमाणु या तो परस्पर सम-परिमाण होंगे या विषम-परिमाण होंगे? प्रथम कल्पनाके अनुसार वे

सबके सब आपसमें तने रहेंगे। उनसे आगे क्रम-विकास द्वारा गोला न बन सकेगा। यह तो उनके आपसमें जुड़कर संघातके रूपको धारण करनेसे हो सकता है। परन्तु सब परमाणु परस्पर तुल्य बल वाले होने से, एक दूसरेको खींचे खड़े रहेंगे, मिलेंगे कभी नहीं। और, यदि विषमपरिमाणकी कल्पना करें तो शांत प्रसुप्त प्रलयकी कल्पना ही निर्मूल हो जाती है। फिर तो आपसके आकर्षणका यह फल होगा कि छोटे बड़े सब परमाणु एक दूसरेसे नियत दूरीपर रहनेका एक प्रकारसे समझौता सा करके, अपने व्यासपर और एक दूसरेके इर्द गिर्द निरन्तर घूमते रहेंगे। वह तो सृष्टि ही ठहरी, प्रलय कहां रही? और, वे स्वयं अपनी गतिको किसी प्रकार छोड़ कर, एक दूसरेके साथ मिल भी न सकेंगे। अर्थात्, उनका न संघात ही बनेगा और न क्रम-विकास द्वारा स्थूल जगत् ही प्रकट हो सकेगा?

माया० यह तो बड़ी उलझन सी पड़ गयी!

शून्य०—तो क्या सारा जगत् शून्य हो जावेगा?

महा०—(मुस्कराकर) भाई, जगत्को कोई कुछ नहीं कर रहा। केवल बुद्धिका संघर्ष हो रहा है। कल्पनाके साथ कल्पनाकी टक्कर लग रही है। अच्छा तो, यदि न प्रलयको मानें और न ही गोले आदि के क्रम-विकासको मानें, तब कैसी रहेगी?

सत्य०—महाराज, यह कैसे हो सकता है? पृथिवी आदि लोक सूर्यके इर्द गिर्द इसीलिये घूमते हैं कि वे एक समयमें इसीके शरीरके अंग थे। समय पाकर बिछुड़ गये और फिर नियत दूरीपर प्रदक्षिणा करने लग गये। यही संबन्ध चन्द्र

और पृथिवीका परस्पर है। इस प्रकार जब पीछेकी ओर देखते हैं, तो सौर जगत्‌का एक गोलाकार स्वरूप कल्पना करना पड़ता है। यदि आगेकी ओर आंख बढ़ा कर देखते हैं, तो इन सूर्य, पृथिवी आदि घूमते हुए बड़े २ लोकोंके छोटे २ टुकड़े होते हुए सामने आते हैं। पीछे की आंख सृष्टिकी और आगेकी आंख प्रलयकी कल्पनाको अनिवार्य्य बना रही हैं।

महा०—(प्रसन्नता प्रकट करते हुए) बहुत ठीक। आपकी धारणा अच्छी है और विचार स्पष्ट है।

सत्य०—महाराज, आपकी कृपा से कुछ सीखनेका यत्न करता हूं।

वस्तु०—महाराज, एक कल्पना यों भी तो हो सकती है। पृथिवी आदि लोकोंके अब और विभाग न होकर, इनका अपने केन्द्रमें पुनः प्रवेश हो जावेगा?

लोक०—यह क्यों कर?

वस्तु०—सुनिए भी इनकी परस्पर दूरीका अचानक भेद हो पड़नेसे गड़ बड़ हो सकती है। सूर्य परिमाणमें बहुत बड़ा होनेसे, अपने परिवारको अपने अन्दर समेट सकता है। इसी प्रकार इस सौर जगत्‌का दूसरे केन्द्रोंमें और उनका और दूसरे केन्द्रोंमें शनैः २ समावेश होकर, एक समय आ सकता है जब इसी स्थूल जगत्‌का बड़ा संघात ब्रह्माण्डके गोलेके रूपमें हो जावे। वह खूब घूमेगा। शनैः २ उसकी गरमी कम हो जानेसे उसके शरीरके अन्दर संकोच और कुछ रगड़ सी उठ कर, फिर गरमी बढ़ने लगेगी। वेग से और बढ़ जावेगी और उससे पुनः उसी प्रकार क्रम-विकास हो सकेगा।

महा०—केवल इतनी ही कसर है, कि ऐसी कल्पनाके लिये असंख्य कालसे चल रहे चक्रमें, जो आज तक कभी संभव नहीं हुई, ऐसी गड़बड़की कल्पना साथ करनी पड़ती है। विना विशेष प्रमाणके ऐसा करना अन्याय होगा। और, कोई प्रयोजन भी सिद्ध होता हो, तो भी ऐसा किया जावे ?

माया०—इसको मानकर प्रलयकी कोई कल्पना न करनी पड़ेगी।

महा०—नहीं, यह भी नहीं है। केवल नामका भेद है, बात तो वैसीकी वैसी ही रहेगी। छोटोंका बड़े केन्द्रोंमें और अन्तमें सबका एक महासंघातमें लय तो मान लिया और उससे सृष्टि भी मान ली। प्रलय भी हो गयी और सृष्टि भी चल पड़ी। भेद क्या हुआ ? और, फिर अप्रमाणित कल्पनाका व्यर्थ आडम्बर ! इसलिये, सज्जनो, कल्पना चाहे जौनसी करलो, आपके सामने प्रश्न यह है कि यह अद्भुत सृष्टि और प्रलयका चक्र चलता कैसे है ? आकर्षणरहित, मौलिक परमाणुओंमें आरम्भिक प्रेरणा कैसे पैदा होती है ? सोये हुए, अव्यक्तमें जागृति कहांसे आती है ? या, अन्तिम कल्पनाके अनुसार, यदि इसे विचारकोटिमें रख भी लें तो, लोक, लोकान्तरोंकी असंख्य कालसे चली आ रही, नियमबद्ध गतियोंमें अकस्मात् परिवर्त्तन क्योंकर हो जाता है ? क्या इस सारे विश्वसे भिन्न कोई सर्वव्यापक प्रेरक सत्ता है, या यह सारा काम स्वयं ही चल रहा है ?

सत्य०—महाराज, आज कल प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति होती जा रही है कि प्रकृतिसे भिन्न कोई प्रेरक सत्ता नहीं है।

मनुष्यने बड़े २ चमत्कार करके दिखलाये हैं। बनावटी कठपुतलियां नाना प्रकारके कार्य स्वयं करती हैं। तो क्या यह संभव नहीं है कि यह प्रकृतिका खेल भी स्वयमेव चल रहा हो?

लोक०—तो क्या आपका विचार अनीश्वरवादकी ओर हो चला?

सत्य०—नहीं, ऐसा मत समझिए। महाराजके कथनानुसार बुद्धिको संघर्ष द्वारा विकिसित करनेके लिये चर्चा चलायी है। ये बातें कई वार सुननेमें आती हैं। इनका समाधान भी तो करना चाहिये।

महा०—ठीक है। तनिक सोचो तो सही। एक छोटेसे छोटे घड़ी आदिके यन्त्रको ठीक २ जोड़नेमें चेतन प्रेरककी आवश्यकता प्रतीत होती है। इस अवस्थामें यह कैसे मान लें कि यह ब्रह्माण्डका महा-यन्त्र विना किसीकी प्रेरणाके स्वयं ही चलता रहता है?

वस्तु०—महाराज, घड़ीको तो चाबी दे दी जाती है और फिर वह स्वयं चलती रहती है।

महा०—यह प्रश्न नहीं है कि चाबी एक दिनमें एकवार दी जाती है, या दस दिनमें एक वार। चाबी दी जाती है और उसके न दिये जानेपर, घड़ी बन्द पड़ी रहती है। दूसरे शब्दोंमें पग २ पर चेतनकी प्रेरणाकी अपेक्षा बनी रहती है।

सत्य०—पर आज तो मनुष्योंने मेशीनें चलानेके लिये तथा अन्य कई प्रकारके कार्य करनेके लिये जो कठपुतलियां (automatons) बनायी हैं, वे तो स्वयं सब व्यापार करती हैं।

महा०—नहीं, यह भी नहीं है। उन्हें भी अपने स्थानपर ठीक प्रकारसे युक्त करना पड़ता है। युक्ति बुद्धिका फल है और उसे चेतनका एक प्रकारसे बाहिरका विस्तार कह सकते हैं। उसके प्रयोगके विना न तो कोई यन्त्र बन ही सकता है और न बननेपर ठीक काम ही कर सकता है। वास्तवमें विचारकर देखनेपर आपको निश्चय हो जावेगा कि जिस गति या प्रवृत्तिमें कोई प्रयोजन पाया जाता है वहां साक्षात् या परम्परासे चेतनका अवश्य संबन्ध बना रहता है।

वस्तु०—महाराज, क्या कारण ?

महा०—घड़ीका उसके ठीक चलनेमें उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं। हां, जिसने घड़ी ठीक बनायी है, उसकी कीर्त्ति होती है, तो उसका प्रयोजन सिद्ध और उसके हां सम्पत्ति बढ़ती है। दोनों अवस्थाओंमें, घड़ी बनानेसे पूर्व, उसने मनमें विचार पूर्वक इन बातोंको लक्ष्य बनाया हुआ होता है। इसीका नाम प्रयोजन है। यह विचारनेमें सर्वथा असमर्थ, सोना, चान्दी. मिट्टी आदि जड़ जगत्का काम नहीं, वरन् शरीरके अन्दर "मैं" और "मेरा" के भावोंके केन्द्रस्वरूप चेतनका ही चमत्कार है। इसी प्रकार यदि घड़ी ठीक समय देती है, तो जिसकी वह घड़ी है, उसे ही सन्तोष होता है। वह अपने कामपर पहुंच जाता है और प्रत्येक व्यवहारको समयपर सिद्ध कर लेता है। चेतनके ही प्रयोजनोंकी सिद्धिमें सहायक होनेसे घड़ी आदि यन्त्रोंके नियमपूर्वक चलने आदि कार्य्योंकी प्रशंसा होती है। यदि उन कार्य्योंके फलोंको सुख, दुःखके

रूपमें उपभोक्ता कोई न हो, तो उनके कारण उन नियमोंके गुण, दोषका विवेक ही असंभव हो जावे।

सत्य०—तो महाराज, इस विचारसे क्या सिद्ध होता है?

महा०—इससे हम इस परिणामपर पहुंचते हैं, कि भौतिक पदार्थोंका नियमपूर्वक संघटन और संचालन चेतनकी प्रेरणाके विना असंभव है। संसारमें ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं, जो इस परिणामके विरुद्ध जाता है। जब यह बात है, तो विश्वकी रचनापर विचार करते हुए विवश किसी प्रेरक देवको स्वीकार करना पड़ता है। भला एक छोटेसे यन्त्रकी क्या बात, जिसे प्रतिदिन चाबी देनी पड़े, शुद्ध रखना पड़े, और संभालना पड़े! इस विश्व-यन्त्रको न जाने कब चाबी दी जाती है और यह कैसे निरन्तर, निर्विघ्न चलता रहता है। इसके नियमोंके पर्य्यालोचनमें ही विज्ञानकी महिमा है। विज्ञान नयी सृष्टि रचकर सफल नहीं हो रहा। रची हुई सृष्टिके नियमोंको समझ समझकर, उनके अनुसार सृष्टिके अन्दर विद्यमान पदार्थोंका ठीक २ उपयोग और उपभोग करता हुआ ही यह सफल हो रहा है। यह विज्ञानका कोई कार्य नहीं कि वह बतावे कि इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म, नियमबद्ध रचनाकी तहमें कोई और शक्ति काम करती है, या नहीं। यह तो गुप्तसे गुप्त नियमोंकी तलाशमें लगा रहता है। सच पूछो, तो इस प्रतिदिन उन्नतिशील विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि संसारमें एक पत्ता भी हिलता है, तो किसी नियमका पालन करता हुआ हिलता है। यह दार्शनिकों और विचारकोंका कार्य होता है कि विज्ञानके परिणामोंके आधारपर किसी क्रम-बद्ध तर्कको उठावें। मुझे

यह देखकर प्रसन्नता हो रही है कि विज्ञानमूल तर्क आस्तिकता अर्थात् आध्यात्मिक विश्वासकी ओर ही प्रेरणा करता चला जा रहा है। ज्यों २ नियम, समता, प्रयोजन और सूक्ष्मसे अदृश्य जगत्‌की विचित्रतापर विचार बढ़ता जावेगा, लोगोंमें सच्ची श्रद्धाका उदय होता जावेगा।

वस्तु०—परन्तु अभी तक तो नयी २ वैज्ञानिक उन्नति तथा विद्याके प्रचारने लोगोंको आत्मा, परमात्मासे नास्तिकसा ही बनानेकी की है।

महा०—यह सच है, पर इसका भी कारण है। लोगोंने भी तो ईश्वरके विषयमें, न जाने कैसी २ कल्पनाएं घड़ रखी हैं। यह निश्चित बात है कि वैज्ञानिक प्रकाशमें अब ये बातें अधिक काल तक नहीं ठहर सकतीं। अब आसमानी स्वर्ग, नरककी कहानियां और फरिश्तों और अप्सराओंके किस्से नहीं चल सकते। विज्ञानने भूमि, समुद्र और आकाशके कोने २ को मिथ्या, कपोल-कल्पित भूतोंसे ख़ाली पाया है। हां, शनैः २ यह परमाणु २ में रमे हुए, सबके विधारक और सबके प्रेरक, आध्यात्मिक देवकी ओर बुद्धिको प्रेरणा कर रहा है। आन्तरिक आंखके खुलते ही श्रद्धाका दीपक जग पड़ेगा। उस समय यह तर्ककी स्थूल बुद्धि भी पीछे रह जावेगी। चेतनका चेतनसे मेल होकर निरतिशय आनन्दका समय बंध जावेगा। हैरानी यह होगी, कि यह मेल सदासे सिद्ध होनेपर भी, क्यों इतने चिरके पीछे प्राप्त हो सका। वास्तव बात यह है कि विज्ञान पहिले बुद्धिको बाहिर धक्का देकर, दौड़ाता और घुमाता है। इसे निर्भय होकर सर्वत्र घुसनेके लिये बाधित करता है। परन्तु जब यह पूरा

चक्र लगाकर वापिस अन्दर आती है और विचार पैदा होता है, तो फिर बाहिरका नाम भी भूल जाता है। अन्दर ही नया जगत् प्रत्यक्ष होने लगता है। वह मस्ती पैदा होती है कि जिसमें ऊबनेका गन्ध भी नहीं पाया जाता। अतः सज्जनों, विज्ञानका भी इसे परम विज्ञान जानो, जो शनैः २ उस पदवी तक चढ़ जाना है। परन्तु उसके लिये मार्ग बहुत पड़ा है।

—:०:—

सप्तम खण्ड

विश्वका आध्यात्मिक आधार।

वस्तु०—महाराज, क्या वस्तुतः उत्पत्ति और प्रलयके चक्रको चलाने वाली कोई चेतन सत्ता है? इस प्रश्नपर विचार करते २ उलझनें ही उलझनें पड़ती जाती हैं। क्या प्रतिदिन विकसित होता हुआ विज्ञान इन सब ग्रन्थियोंको खोल देगा?

महा०—प्यारे, यह तो कहना कठिन है कि विज्ञान कहां तक साथ देगा। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि भौतिक जगत्को समझनेके लिये विज्ञानको छोड़कर दूसरा कोई ग्रहण करने योग्य उपाय भी नहीं है। इसका अवलम्बन करते हुए, जहां तक यह चले, इसके साथ चलना चाहिये।

सत्य०—भगवन्, यह तो ठीक है। पर आज भी जब कि विज्ञानका इतना विकास हो रहा है, मनुष्य अपनी बुद्धिकी सीमापर पहुंचकर हैरानीसे दांतों तले अंगुली दबाकर खड़ा

हो जाता है। यह सच है कि कुछ विद्वानोंके अनुसार, आजकी बढ़ी चढ़ी हुई जातियोंके सहस्रों वर्षों पूर्वके पूर्वज बिजलीकी कड़क और चमकसे, पर्वतोंकी विशालतासे, नदियों और झरनेके प्रवाहसे, समुद्रकी उमड़ती हुई तरंगोंसे, अग्निकी लपकोंसे और अन्य पदार्थोंके नाना प्रकारके स्वरूपसे भयभीत होकर अथवा चकित होकर, उन्हें देवता मानकर उनके आगे सिर झुका देते थे। यह भी सच है, कि आजके वैज्ञानिक वीर इन सब पदार्थोंको चीरते, फाड़ते हुए, इनके नाना प्रकारके सूक्ष्म नियमोंको समझते हुए, एक प्रकारसे इनपर सवार हो गये हैं। पर हैरानीकी अब भी कमी नहीं। भेद इतना ही है कि जहां साधारण आदमी स्थूल रचनाको न समझकर वहीं वाह२ करने लग जाता है, वहां विशेष विद्वान् लोग सूक्ष्म रचनाके सूक्ष्म नियमों का विचार करते २ वहां जा पहुंचते हैं, जहां आगे मार्ग न पाकर हैरानीमें खड़े हो जाते हैं।

महा०—वे खड़े नहीं होते। यही कारण है कि विद्या और विज्ञानमें उत्तरोत्तर विकास होता है। जहां तक एक विद्वान् पहुंचता है, पीछे आने वाले उससे आगे चलते हैं। कई वार और कारणों द्वारा बाधा पड़ जानेसे विद्याओंका लोप भी होजाता है। पर सच्चे विद्वान् अपने स्वाभाविक पुरुषार्थसे लगे रहते हैं और पुनः २ उन विद्याओंका प्रचार करते रहते हैं। पर हां, इसमें सचाई है कि विज्ञानकी उन्नतिके साथ सृष्टिकी सूक्ष्मताका ज्ञान बहुत बढ़ा है। इससे हैरानी भी बढ़ी है और मनुष्यको यह सोचनेपर बाधित होना पड़ रहा है कि भौतिक रचनाकी तहमें कोई सर्वव्यापक आध्यात्मिक आधार है।

लोक०—क्या विज्ञान द्वारा ईश्वरको सिद्ध किया जा चुका है ?

महा०—नहीं, आपने मेरे भावपर पूरा विचार नहीं किया। ईश्वरको न विज्ञानने सिद्ध किया है और न ऐसा करना इसका काम है। इसने बड़ी उत्तमतासे भौतिक जगत्का विश्लेषण करके यह समझाया है कि संसारमें मौलिक तत्त्व और गतिका स्वरूप क्या है। विज्ञानके लिये यह संभव नहीं है कि किसी अभौतिक पदार्थका प्रत्यक्ष करा सके। भौतिक प्रभावोंके लिये किसी अभौतिक आधारकी कल्पना करना भी इसके बसमें नहीं। हां, सच्चे विज्ञानका यह संकेत है कि मुझे जानकर भी यह मत समझना कि हमने संसारको पूरा समझ लिया है। यदि हम यह भी मानलें कि जो भौतिक रचनाकी ग्रन्थियां विज्ञान अभी तक नहीं खोल सका, उन्हें यह शनैः २ खोल लेगा, तो भी संसारके अभौतिक अंशको समझनेके लिये विज्ञानको छोड़कर, इससे आगे बढ़कर किसी और साधनकी अपेक्षा प्रतीत होती है।

उप०—महाराज, मुझे तो यह विषय बड़ा कठिन प्रतीत हो रहा है। यदि भौतिक जगत्की व्यख्या विज्ञानको सौंप दें, तो फिर ईश्वरके माननेकी क्या आवश्यकता रहेगी ? सर्ग और प्रलयका क्रम सरदी गरमीके तथा आकर्षणके नियमोंसे स्वयं चलता होगा। ये नियम सूक्ष्म हों इनका समझना कठिन हो, पर विज्ञान तो यही कहेगा न कि इन नियमोंसे जगत्का सारा काम चल रहा है। अर्थात् इन नियमोंके होते हुए किसी अन्य कारणके माननेकी आवश्यकता नहीं।

महा०—नहीं यह ऐसा भी नहीं कह सकता। इसका काम नियमोंको समझना है। इन नियमोंका होना ही किसी चेतन कारणकी प्रेरणाका परिणाम है, यह कल्पना आगे विचारकों द्वारा उठायी जाती है। परन्तु विज्ञानके पास न इस कल्पनाके विरुद्ध और न इसके मण्डनके लिये कोई साधन है। कारण यह, कि विज्ञान किसी ऐसे पदार्थका दृष्टान्त हमारे सामने नहीं ला सकता जो चेतनकी प्रेरणाके विना काम करता हो। इस लिये विज्ञान अपने क्षेत्रको यहीं तक समझता है कि प्राकृतिक नियमोंकी सूक्ष्मता और व्यापकताको स्पष्ट करता चले।

लोक०—महाराज, जब यह बात है, तो ईश्वरकी कल्पनाको किया तब क्या, और न किया तब क्या? क्यों न विज्ञानकी उन्नतिमें ही हम भी पुरुषार्थ करें?

महा०—क्यों ऐसा करें? हम क्या हैं और हमारा जीवन क्या है? क्या इस संसारकी सूक्ष्म, नियमबद्ध, सुन्दर और विशाल रचनाका कोई प्रयोजन भी है? यदि है, तो वह क्या है? यह प्रश्न हैं, जिनका उत्तर तब तक ठीक २ सन्तोष देने वाला नहीं मिलता, जब तक यह न समझें कि भौतिक विस्तार वास्तवमें आधा संसार है। इस सारे विस्तारके पीछे और आगे, इससे बढ़कर व्यापक एक और प्रकारका संसार है, जो अभौतिक है। उसके अन्दर विचार और अनुभवका राज्य है।

माया०—इस संसारको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है या नहीं?

महा०—यदि प्रत्यक्षके अर्थका विस्तार करलें, तब तो इसका सदा प्रत्यक्ष हो रहा है। हम इस आध्यात्मिक जगत्के स्वयं भाग हैं, हम ऐसा अनुभव करते हैं। हां, साधारण आंखों और कान आदि इन्द्रियोंका वहां प्रवेश नहीं हो सकता?

सत्य०—महाराज, कोई ऐसा विचार उठावें, जिससे इस विश्वकी आध्यात्मिक सत्ताकी अपेक्षा हमारे हृदयोंमें पैदा हो। कहनेको तो हम ईश्वरवादी हैं, परन्तु सच्ची श्रद्धाकी जागृति कहां है?

महा०—सो तो विना आध्यात्मिक दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किये सम्भव नहीं। हां, विचारकी जहां तक दौड़ है, आओ, थोड़ा सा सोचते हैं। यदि यह हमें सन्तोष न हो कि "हम" सुख, दुःख, हानि, लाभका अनुभव करने वाले चेतन तत्त्व हैं, तो फिर इस जीवनमें पड़ा ही क्या है? बस, जैसे एक २ ईंटसे जुड़कर विशाल भवन खड़ा होता है, वैसे ही एक एक पदार्थके संघटनसे यह विशाल संसार बना हुआ है। हां, इतना भेद अवश्य है कि जहां उस भवनकी सुन्दरता और उपयोगिताकी प्रशंसा करने वाले और उससे लाभ उठाने वाले भवनसे भिन्न दूसरे व्यक्ति होते हैं, वहां हम सबके सब इस संसारकी विस्तृत रचनामें उन जड़ ईंटोंकी भांति रह जाते हैं। न हमारी बुद्धिका कुछ अर्थ है और न कोई और चेतन सत्ता हमारे आस पास मौजूद है। क्या भयङ्कर विचार है? नहीं, विचारका भी क्या अर्थ?

वस्तु०—परन्तु यह तो हमारे अनुभवके विरुद्ध है। हम तो अपने आपको प्रतिक्षण, निरन्तर ऐसा अनुभव करते हैं कि

हम अलग हैं और संसार अलग है। अनेक प्रकारसे साधारण व्यवहारमें भी और विशेष रूपसे आध्यात्मिक प्रकाशमें, अपने आपको अपने शरीरसे भिन्न ही पाते हैं। यदि "मैं" प्रकृतिके अन्धे नाचके सिवाय वस्तुतः कोई सत्ता नहीं रखता, तो फिर इस मानव जीवनका कोई प्रयोजन भी नहीं हो सकता।

महा०—प्रयोजनके शब्दका प्रयोग तब हो, जब इस सारे चक्रको चलाने वाली किसी आध्यात्मिक सत्ताको स्वीकार किया जावे। हममेंसे प्रत्येक इस विश्व-चक्रका अंगस्वरूप होकर रह रहा है। ठीक उसी प्रकार, जैसे पर्वत, नदियां, नाले, वृक्ष आदि इस विशाल विश्वके अवयव हैं, ऐसे ही प्रत्येक पक्षी, पशु और मनुष्य भी इसका अवयव हैं। यदि सारा विश्व सामुदायिकरूपसे प्रयोजन रहित है, तो हम भी इस महाभयङ्कर मेशीनके इच्छा रहित, भावरहित, उद्देश्यरहित और अनुभवरहित पुर्जे ही बन जाते हैं।

सत्य०—और, जो इच्छाएं, भावनाएं और प्रेरणाएं हमारे अन्दर उठती हैं?

महा०—बस, मस्तकके असंख्यात कोशों (Cells) का इन्हें अन्धा नाच ही समझना पड़ेगा। मृत्युके साथ इन सबकी समाप्ति माननी पड़ेगी। किसी नित्य आत्मिक सम्बन्धकी आशा नहीं की जा सकेगी।

वस्तु०—महाराज, ऐसा क्योंकर मान लें। हमारे सारेके सारे आदर्श मिट्टीमें मिले जाते हैं। हमारी धार्मिक भावनाएं, पूर्णताकी इच्छाएं, निष्कलंक सौन्दर्य्य और पूर्ण प्रेमकी वासनाएं क्या ये सब व्यर्थ पैदा होती हैं? क्या इनकी पूर्ति कभी न होगी?

शून्य०—क्यों न होगी ? चेतन जीव तो शरीरके नाशके पीछे भी रहेगा और उत्तरोत्तर विकासको प्राप्त करता हुआ, एक समय पूर्ण भी होगा ।

सत्य०—यदि चेतन जीवको स्वीकार करके, यह आशा की जावे कि उसकी गति एक शरीरके साथ समाप्त नहीं होती, तब भी यह व्यर्थ सी ही होगी । जब सारी प्रकृतिका खेल प्रयोजन-रहित है, तो मेरी या किसी अन्य परिमित शक्ति वाले चेतनकी भावनाएं भी क्या कर सकती हैं ? मेरे या मेरे जैसे किसी अन्यसे यदि कोई पूछे, तो हम इस शरीरको ही कभी न छोड़ें । जो दयाहीन प्रकृति मेरी जीवन-इच्छाका तिरस्कार करके, मुझे इस शरीरको त्यागनेपर बाधितकर सकती है, उसका मुकाबिला करके, मैं आगे चलकर अपने आपको पूर्ण बना सकूंगा, यह असंभव सा प्रतीत होता है ।

महा०—बिलकुल ठीक । हमारी आशाओंका परमाधार विश्व-व्यापक, आध्यात्मिक देवकी नियामक सत्ताके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता । यदि विश्व-धर्मका कोई अधिष्ठाता नहीं, तो फिर धर्म कर्मकी मर्यादाको स्थिर और उन्नत करनेकी इतनी चिन्ता ही क्यों करें ! क्यों प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व न्योछावर करें ? वास्तवमें जब ब्रह्माण्डके अन्दर दिखाई देने वाले व्यापक, गम्भीर, सूक्ष्म, विकासकारक, सुन्दरताके उत्पादक, सुख, दुःखरूप नाना प्रकारके अनुभव द्वारा जांचे जा सकने वाले प्रयोजनोंको पूरा करने वाले, अखण्ड नियमोंके लिये किसी आध्यात्मिक आधारके विना काम चल सकता, तो इस छोटेसे शरीरके सूक्ष्मसे सूक्ष्म व्यवहारों और इसके अन्दर

उठने वाले विचारोंके लिये भी जीवके माननकी कोई आवश्यकता न रहनी चाहिये । जैसे प्रकृति विना किसी प्रेरक सत्ताके संकेतके बाहिर नाच रही है, ऐसे ही हमारे अन्दर भी नाच रही है । बस, ज्ञान और विचारकी कोई विशेष महिमा नहीं । नदी–प्रवाहमें उठने वाली झागके समान ये भी बुलबुले से समझे जा सकते हैं । परन्तु वस्तुतः हम ऐसा कहते हुए, युक्तिद्वारा सिद्ध करते हुए, इस बातको अपने अनुभवके विरुद्ध पाते हैं । वार वार हमारे अन्दर धार्मिक प्रेरणा पैदा होती है । पूर्णताकी आशा दबनेपर भी नहीं दबती । हम अन्दरसे सदा ऐसे प्रेमकी तलाशमें लगे रहते हैं, जिसमें ढीलापन कभी न आवे । हम सदा उस मित्रका चित्र खींचते रहते हैं, जो विश्वासघातसे कभी दूषित न होता हो । ज्ञान-शून्य प्रकृति कहां, और सर्वत्र पायी जाने वाली सुन्दरताकी भावना कहां ? ऐसा कौन होगा, जो इस विशाल रचनाकी सुन्दरतासे मुग्ध न होता हो ?

माया०—तो महाराज, आपका अभिप्राय क्या है ?

महा०—प्यारो, मेरा भाव स्पष्ट है । हृदयकी तड़प, न दबने वाली तड़प असली आदर्शकी ओर हमें लिये जा रही है । यह ठीक है, हम जीवन–मार्गपर चलते हुए, प्रत्येक पड़ावपर प्राप्त होने वाले पदार्थोंसे तृप्तसे हो जाते हैं । उनका रस, उनका सौन्दर्य्य और उनका उपयोग हमें प्रभावित अवश्य करते हैं । कुछ कालके लिये यही जंचता है कि जीवनके लाभकी पराकाष्ठा वही है । वहीं दृष्टि जमी रहना चाहती है । वहीं मन लगा रहना चाहता है । पर वह काल कितना होता है ? कितना शीघ्र

ही, न केवल आंखको वरन मनको भी वहांसे सदाके लिये उखाड़नेके लिये क्या २ साधन-सामग्री एकत्र हो जाती है। सबके जीवनमें प्रतिदिन ऐसा खेल होरहा है। भेद केवल यह है कि कोई २ सुजान दूर, आकाशके एक कोनेमें उभरे हुए मटियालेपनको देखकर, आते हुए तूफानका अनुमानकर लेता है और मकानकी छतपर या बाहिर मैदानमें फैले हुए वस्त्रादिको समेटना आरम्भ कर देता है। और दूसरोंको तब पता चलता है जब आंखोंमें इतनी मिट्टी भर जाती है कि कुछ देखते ही नहीं बनता। सच्चा विद्वान् क्षणिक तृप्तिके स्वरूपको पहचानकर असंतुष्ट सा होकर, आदर्श शान्ति-धामकी तलाशमें निकल पड़ता है। साधारण जनोंको सांसारिक झंझावात धक्केपर धक्का मारता है, पर उनकी आंख खुलनेमें ही नहीं आती।

लोक०—महाराज, क्या कोई उस आदर्श शान्ति-धाम तक पहुंचा भी?

महा०—यहां तो परम सन्तोषकी बात है। अनेक महाभागोंने उसे पाया है और अपने अनुभवकी चट्टानपर खड़े होकर पीछे आने वाले लोगोंके लिये घोषणाकर गये हैं कि 'निराश होकर बैठ न जाना। मिलेगा और अवश्य मिलेगा। सबको मिलेगा।' वास्तवमें, प्यारो, बाहिरकी सृष्टिकी रचना बड़ी मनोहर है, सूक्ष्म है, विशाल है, अद्भुत है। इसकी नियमबद्ध, सार्थक, सुन्दर, उन्नतिशील बनावटके आधारपर चेतन नियन्ता और प्रेरकका अनुमान करना स्वाभाविक है। पर यह आवश्यक नहीं कि इस प्रकारके अनुमानोंसे शान्ति प्राप्त हो। बुद्धिमान् भी जावे, तब भी विधाताके स्वरूप-दर्शनका

द्वार नहीं खुलता। यह भी सम्भव है कि तर्कके साथ कुतर्क मिलकर ऐसी उलझन खड़ी करे, जिसे सुलझाना कठिन हो और कुछ समझमें न आवे। शान्तिके स्थानपर और अशान्ति पैदा हो। पर अन्दरकी युक्तिका, अनुभवके स्वरूपका कोई खण्डन नहीं कर सकता। विज्ञानके द्वारा चाहे कितना ही चमत्कार होता रहे, अपनी आन्तरिक सत्ताके अनुभवका विरोध कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि "मैं हूं" और इससे बढ़कर आत्म-सिद्धिका और कोई मार्ग नहीं हो सकता। इसी प्रकार विश्वके आध्यात्मिक आधारका अनुभव ही उसकी सिद्धिका परम प्रमाण है। शनैः २ विद्वान् बाहिरकी विद्या और तर्कको अपूर्ण समझने लगे हैं। 'हृदय २ का साक्षी होता है' इस सूत्रकी सत्यता मानी जाने लगी है। यह शायद संभव न हो कि बाहिरके प्रयोगों (Experiments) की तरह आत्मिक अनुभवको दूसरेके प्रति प्रत्यक्ष कराया जा सके। परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि मनुष्य अपने अनुभवसे स्वयं इनकारी हो जावे। गूंगा आदमी दूसरोंको मिठासका परिचय न करासके। पर उसके स्वयं रसास्वादनको तो अप्रमाणित नहीं किया जा सकता। और, बाहिरका परिचय भी हो जाता है। ऐसे पुण्यात्माका जीवन सच्ची शान्ति और सच्चे प्रेमसे सदा पूर्ण रहता है। उसके चित्तकी समतामें कभी भंग नहीं होता। वह इसी जीवनमें मुक्तिका आनन्द लेता है। वह संसारमें चलता फिरता हुआ, इससे पृथक् हो जाता है। इन सब बातोंको जनता जान जाती है। प्रत्येक युगमें और प्रत्येक देशमें ऐसे प्रभु-प्रसादके सुपात्र

प्रकट होते रहते हैं। अन्धेरी रातमें, सागरके मध्यमें चलने वाले नाविकोंके लिये दूरवर्त्ती, ज्योतिर्गृहोंके समान, वे अपने चारों ओर आध्यात्मिक प्रकाशका प्रस्तार करने वाले होते हैं। धन्य हैं, वे जन जो इतनी पुण्य गतिको प्राप्त हैं और धन्य हैं वे, जो उनके संकेतों और उपदेशोंसे लाभ उठाते हैं।

वस्तु०—तो क्या इस विषयमें तर्क नहीं होसकता ?

महा०—यह भाव नहीं है। हमारे आन्तरिक जीवनके कई विभाग हैं। आपको स्मरण होगा, कुंभपर जानेसे पूर्व अन्तःकरणके स्वरूपपर जब चर्चा चलती थी, तब इन विभागोंका भी वर्णन किया गया था। आजके मनोविज्ञानी भी तीन प्रकारसे अन्तरिक प्रवृत्तिका भेद करते हैं। पहिला भेद विचार है। दूसरा इच्छा और तीसरा अनुभव है। साधारण परिभाषामें विचारको मस्तक या बुद्धिसे जोड़ा जाता है। इच्छाको चेतन कर्त्तासे संबन्धित किया जाता है और अनुभवका योग हृदयसे माना जाता है। वस्तुतः चेतन तो तीनों प्रवृत्तियोंमें निमित्त होता है और अन्तःकरण इनका आधार होता है। अब तर्कका विचारके साथ संबन्ध है। इसके सुप्रयोगसे बुद्धिका विकास होता है और सुबुद्धि पुरुष नाना प्रकारके मिथ्या विश्वासोंसे छूट जाता है। इसी लिये आर्य-ऋषियोंने तर्क और ज्ञानकी बड़ी महिमा गायी है। परन्तु आध्यात्मिक प्रत्यक्षका परम साधन अनुभव ही है। जब साधककी इच्छा, प्रज्वलित होकर तीव्र श्रद्धाका रूप धारण कर लेती है और वह इस मार्गके जानने वाले गुरुओंकी कृपासे पूरी साधनसम्पत्ति से युक्त होकर, हृदयद्वारके ऊपर हाथ

रखता है, तो वह खुल जाता है। उस अवस्थाका नाम आध्यात्मिक प्रत्यक्ष है। अनुभव दो प्रकारका होता है अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक। खांडको खाकर जो रसास्वादनकी प्रतीति होती है, यह भौतिक अनुभवका उदाहरण है। आध्यात्मिक प्रत्यक्षमें शरीर या इन्द्रियादिका प्रवेश नहीं होता। अनुभवियोंने यहां तक कहा है कि मन और बुद्धिका भी वहां प्रवेश नहीं। जब साक्षात् अनुभवकी अवस्था होती है, तो संकल्प, विकल्प, जीवन, मृत्यु, मित्र, शत्रु, सुख, दुःख अर्थात् सब प्रकारके आन्तरिक और बाहिरके भेदक भाव अभावको प्राप्तहो जाते हैं। हां, अभेदक भाव, परमात्मामें आत्माके लयका भाव उत्कट अनुभवके स्वरूपको धारण किये होता है।

सत्य०—महाराज, इस विषय में शास्त्रीय शब्दोंका क्या स्थान है?

महा०—भिन्न २ जातियोंमें भिन्न २ शास्त्रोंको माना जाता है। फिर ये शास्त्र भिन्न २ समयों पर बने हैं। तो भी इनके दो स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम वह भाग है, जिसे अपने हां 'श्रुति' कहते हैं। इसका तात्पर्य आध्यात्मिक प्रत्यक्षका अनुवाद कह सकते हैं। दूसरे भागको 'स्मृति' कहते हैं। इसमें ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं और रीति, रिवाजोंका विस्तार होता है। जहां प्रथम विभागके सामान्य स्वरूपपर समयका कोई प्रभाव नहीं होता, वहां दूसरे विभागके शास्त्रोंपर अपने रचना-कालकी मुहर लगी रहती है। इस लिये उनकी प्रमाणता भी गौण ही मानी जाती है। आध्यात्मिक विभाग के शास्त्रीय शब्दोंमें तो साक्षात्कार करने वाले, आप्त

पुरुषोंके अनुभवका वर्णनमात्र होता है। पहिले अनुभव होता है और फिर वर्णनका क्रम चलता है। इस लिये अनुभव और शास्त्रका परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है।

माया०—महाराज, आध्यात्मिक अनुभवके समान होते हुए भी, उसके वर्णनस्वरूप शास्त्रके शब्दोंमें परस्पर भेदका क्या समाधान होगा?

महा०—यह भी साधारण बात है। देखो, अनुभवकी अवस्थामें चेतनका विश्व-चेतनसे परिचय होता है। पर जब तक इस शरीरका बन्धन मौजूद है, इस अवस्थाकी अवधि होती है। अर्थात्, यह नहीं होता कि एक योगी सदाके लिये समाधिस्थ ही रहे। या तो उसका देह छूट जावेगा और विदेह होकर, वह परब्रह्ममें लीन हो जावेगा। और या, उसके देहकी शक्तिके अनुसार कुछ कालके लिये समाधिस्थ होकर, वह फिर इसी संसारमें चलने, फिरने लगेगा। पहिली दशाको प्राप्त होजाने वाला, योगी न शास्त्र ही रचता है और न किसीको उपदेशही करता है। अतः शास्त्रकी रचना व्युत्थानकी दशाके अन्दर ही संभव है। अब आपको इस भेदका सार पता लग जावेगा। ज्योंही बाहिरकी आंख खुलती है, कुछ गड़ बड़ सी पड़ जाती है। वर्णन करते हुए भाषा अपनी मर्यादा और प्रयोगका बन्धन डालती है। उपमा और रूपकका समावेश कुछ और रंग चढ़ा देता है। कुछ विस्मृति भी हो सकतीहै और कुछ भ्रान्ति भी संभव है। जहां तक साक्षात्कारका संबन्ध है, उसमें भ्रान्ति नहीं हो सकती। परन्तु पूर्व और उत्तरकी व्युत्थानकी अवस्थाओंमें उसकी भी संभावना है।

एक साक्षात्कार और दूसरे साक्षात्कारमें जातिका भेद न होते हुए भी, रंगतके गहरे और पतले भावकी तरह तारतम्य हो सकता है। पर इन बातोंसे शास्त्रीय भेदोंको समझते हुए भी, सारांश यहीं निकल आता है कि इन सब अवस्थाओंमें परिपूर्ण, परब्रह्मकी सत्ताका अनुभव होता है। इसेही सब शास्त्रका परमसत्य समझो। वर्णनको सदा गौण समझना चाहिये। उस अवस्थाका और उस तत्त्वका इन बाह्य साधनों द्वारा यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता। असली वर्णन तो पूर्वोक्त आध्यात्मिक लीनतामें ही रह जाता है, जब हम अपने आपको सर्वथा भूल चुके हों और आनन्दकी बाढ़ आजानेसे, विस्मयके कारण मुंह पर मुहर लग चुकी हो।

शून्य०—और, फिर शून्य कहीं न रहे, सर्वत्र वह भरपूर हो रहा है।

महा०—निःसन्देह, निःसन्देह !!

——:o:——

अष्टम खण्ड

वेद आध्यात्मिक प्रेरणा।

महा०—सत्संगियो, साधारण प्रकारसे कई दिनसे जो चर्चा चल रही है, आओ, आजसे अब उसके विषयमें वेद भगवान्‌से भी उपदेश प्राप्त करें।

माया०—महाराज, वेदसे या उपनिषद्‌से ?

सत्य०—क्या मतलब ?

माया०—यही सुनते आये हैं कि वेदमें कर्मकाण्डका वर्णन है और उपनिषदोंमें ब्रह्म-विचारका विस्तार है ।

महा०—यह भूलकी बात है । हरद्वार जानेसे पूर्व जो वेद-सन्देश आप सुनते रहे, क्या वह कर्मकाण्ड ही था ? आप देख चुके हैं, आत्मिक, शारीरिक तथा मानसिक परिवृद्धिके लिये वेदका उपदेश कितना महान् है । अब जो प्रकरण चलेंगे, उनसे आपको वेदके आध्यात्मिक संकेतोंका और भी महत्त्व पता लग जावेगा ।

वस्तु०—तो, महाराज, इस लौकिक सम्मतिके मूलमें क्या बात है ?

महा०—वेद अथाह सागर है । उसमें पापीसे पापी और पुण्यात्मासे पुण्यात्मा तकके लिये अमृत बह रहा है । सकल वर्णों और सकल आश्रमोंके लिये उसके भण्डार भरे हैं । उपनिषदोंमें उसीकी आध्यात्मिक प्रेरणाओंका विस्तार है । वेदमें इन तत्त्वोंका अधिक भाग यज्ञकी परिभाषामें है । उपनिषदोंमें सम्वादों और कथाओंका प्रयोग किया गया है । सार यह है कि उपनिषदें उन लोगोंके लिये मार्ग बताती हैं, जिन्हें या तो संसारसे उपराम हो चुका हो, और या स्वभावसे संसारमें प्रवृत्ति ही न हो । वेद मनुष्यको क्रम २ से विकसित करता हुआ अन्तमें परब्रह्मके सामने लाकर विस्मयसे पूर्ण कर देता है । वहांसे उपनिषदोंका स्रोत बहने लग जाता है । इसी कारणसे इन्हें वेदान्त कहते हैं । इसी लिये ही वेदके अत्यन्त आध्यात्मिक प्रकरणको ईशावास्योपनिषद् कहकर सब

उपनिषदोंके सिरपर रख दिया गया है। एक प्रकारसे शेष सब उपनिषदें उसीका व्याख्यान हैं।

लोक०—तो क्या वेदमें भी सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म तत्त्वका वर्णन पाया जाता है? आजकल पश्चिमी ढंगके विद्वानोंने तो वेदको कुछका कुछ ही समझ रखा है।

महा०—यह उनकी भूल है। वेदको उन्होंने पूरी तय्यारीसे पढ़ा नहीं। साधारण स्वरूप अभी बता ही दिया है। अधिक विस्तारसे आगे आप सुनेंगे।

सत्य०—आपने पिछले सप्ताहके प्रकरणोंमें जिस क्रमका सहारा लेकर, सृष्टिसे स्रष्टाकी महिमाकी ओर हमारी प्रवृत्ति पैदाकी, क्या वेदमें भी ऐसे ही पाया जाता है।

महा०—यही स्वाभाविक मार्ग है। संसार का नाच हमारी आंखोंके सामने हो रहा है। हम स्वयं भी नाच रहे हैं। इस अव्याहत नाचमें, कभी २ कोई चक्र खाकर गिर भी पड़ता है। कोई थककर खड़ा होनेकी चेष्टा करता है। कोई उस थकावटमें सोचता २ आंखें बन्दकर लेता है। कोई आंखें बन्द होते ही निद्राकी लपेटमें आकर बेसुध होजाता है। कोई उस अन्धेरेमें विचित्र प्रकाशको लाभकर, इस नाचके मूलपर विचार करने लग जाता है। कोई वैसा करनेपर भी थोड़ी दूर चलकर रुक जाता है। पर कोई मंझधारसे पार निकल भी जाता है। इसी प्रकारके विचारके धनी पुरुष, ऋषि और मुनि हो जाते हैं। उनकी दृष्टि प्रत्यक्ष नाटकसे दूर संसारके आदि और अन्तके परोक्ष स्वरूपसे जा भिड़ती है। उसी विचित्र दृष्टिसे संसारकी उत्पत्ति और स्थितिका ठीक २ परिचय प्राप्त होता है। आप

हैरान होंगे कि वेदमें इस प्रकरणका कितना पूर्ण, कितना गम्भीर और कितना सुन्दर संकेत पाया जाता है। आज सबसे पहिले जिस सूक्तको आपके सामने रखना चाहता हूं, वह ऋग्वेदके १०वें मण्डलका १२९वां 'नासदीय' सूक्त है। आदिके शब्दोंके आधारपर इसकी ऐसी प्रसिद्धि हो गयी है। इस सूक्तकी महिमा सब समालोचकोंने मुक्त कण्ठसे गायी है। इसका ऋषि प्रजापतिपरमेष्ठी और देवता भाववृत्त है।

उप०—यह नहीं समझे, महाराज।

महा०—मैंने भी इससे पूर्व ऐसा संकेत कभी नहीं किया था। परन्तु अब आप लगातार वेदसे परिचित होते जा रहे हैं। इस लिये उसके सम्बन्धमें कुछ परिभाषाओंको जान लेना भी उचित है। इनसे अनेक स्थलोंको समझनेमें सहायता मिलती है। तो मंत्रोंके ऋषि और देवता क्या होते हैं? इस प्रश्नके पहिले भागके लिये उस दिन वाली श्रुति और स्मृतिकी व्याख्याको स्मरण करो। जो ज्ञानके मूल स्रोत, भगवान्से साक्षात् प्रकाश प्राप्त करते हैं, वे प्रथम कोटिके ऋषि होते हैं। समाहित चित्तके आन्तरिक प्रकाशको पीछे वे ही ऋषि मानवी भाषामें वर्णन करते हैं। उसमें नाना प्रकारकी रचनाओंका आश्रय लिया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मन्त्रमें ऋषिका अपना संकेत पाया जाता हो। पर जहां पाया जाता है, वह साधारणतया नाम लेकर, प्रथम पुरुषमें या उत्तम पुरुषमें किया जाता है।

सत्य०—महाराज, कालिदास आदि कवियोंका ऋषियोंसे क्या भेद है?

महा०—कालीदासादि कवि प्रतिभाशाली होते हुए भी व्यावहारिक अन्तःकरणसे ही प्रकाश प्राप्त करके, पदार्थोंका वर्णन करते हैं। ऋषि अपना संबन्ध अन्तःकरणकी उस अनन्त विस्तार वाली दशासे जोड़ते हैं, जो व्यवहारकालमें प्रायः सोयी हुई रहती है। वह वास्तवमें एक सागर है, जिसके एक किनारेपर तो हम जागृतका सब नाटक करते रहते हैं और दूसरा किनारा है ही नहीं। इस किनारेपर खड़े होकर, ऋषि-जन उस सागरमें गोता लगाकर, आगेको बढ़ते २ परब्रह्ममें लीन होजाते हैं और दिव्य प्रकाशको लाभ करते हैं। आर्षवाक्य उसी प्रकाशका परिणाम होते हैं और दूसरे जनोंमें उसीकी प्रेरणा करते हैं।

माया०—और देवता किसे कहते हैं?

महा०—प्रत्यक्षकृत् ऋषि साधारण पदार्थोंपर भी उस दिव्य प्रकाशकी किरणोंको डालकर, मनुष्यकी आत्मिक और लौकिक उन्नतिके लिये उन्हें दिव्य साधन बना देते हैं। अग्नि, वायु, जल, मिट्टी, पत्थर, मेंह, बादल—सबके सब साधारण स्वरूपके अन्दर छिपे हुए, विभूतिमय प्रकाशसे युक्त होकर, ऋषिके सामने आते हैं। वे दिव्य पदार्थ उसके मन्त्रोंके नायक बनते हैं। उनकी स्तुति द्वारा वह जगत्का कल्याण करता है। और इस संकेतको समझने वालोंको आध्यात्मिक तत्त्वका साक्षात् कराता है। इस सूक्तका, मैं कहा रहा था, देवता भाववृत्त है। किसी एक पदार्थको यहां नायक नहीं बनाया गया, वरन् सारे विश्वके चमत्कारको, जगत्के इतिहासको ही लक्ष्य करके, भक्तको भगवान्की भावनासे भावित करनेका

प्रबन्ध किया गया है सुनिये, अब सूक्तका पाठ आरम्भ करता हूं। साथ २ विस्तार होता रहेगा।

ओ३म्-नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा-परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥*

अर्थः—(तदानीं) तब [प्रलयावस्थामें] (न) (असत्) (आसीत्) था [और] (नो) न ही (सत्) (आसीत्) था; (यत्) जब (रजः) धूली (न) (आसीत्) थी [और] (नो) नहीं (परः=परस्तात्) दूरवर्त्ती (व्योम) आकाश [था]। (किम्) क्या (कुह) कहां (कस्य) किसके (शर्मन्) सुखके लिये अथवा आधारपर [इस वर्णनके अयोग्य विश्वको] (आ) चारों ओरसे (अवरीवः) ढांप रहा था ? (किम्) [उस समय] (गहनं) अगाध (गभीरं) गहरा (अम्भः) जल [भी] (किं) क्या किस=प्रकार (आसीत्) था ? [अर्थात् नहीं था] ॥१॥†

---

* प्राचीन आर्षप्रणालीके अनुसार वेद-पाठके आदि और अन्तमें ओ३म्का पाठ होना चाहिये।

† आचार्य्य दयानन्दजी की 'भूमिका' में 'व्योमापरः' को एक पद मानकर यत्के साथ लगाया गया है। 'आवरीवः' को पद और वह भी 'नाम' माना गया है। 'कुह कस्य' को भी एक पद माना गया है। दूसरे शाब्दिक व्याख्यानके अन्तरकी तो विशेष बात नहीं। पर इन संकेतित भेदोंके कारण भाष्यमें बड़ा भेद हो गया है। क्या उनके पास पद-पाठकी कोई दूसरी प्रति तो न थी ? क्या वे कण्ठसे ही (विना पुस्तक देखे) लेखक को लिखाते जाते थे ? हमें दूसरी बातमें सत्यता प्रतीत होती है।

सत्य०—महाराज, इस मन्त्रका असली मर्म क्या है ?

महा०—सृष्टिका वर्त्तमानरूप आजसे दस लाख वर्ष पूर्व ऐसा न था । क्षण २ में परिवर्तन होरहा है । इस विषयका संकेत करते हुए, हम देख चुके हैं कि विश्वकी स्थिति सर्ग और प्रलयके मध्यमें होती है। वैज्ञानिक और तार्किक बुद्धि वर्त्तमान स्थितिसे पूर्व और उत्तरकी अवस्थाके विषयमें नाना प्रकारके प्रमाणोंके आधारपर नाना कल्पनाओंको करती है । यह मन्त्र एक झटकेसे इन कल्पनाओंको निराधार सा बनाकर, बुद्धिको बलपूर्वक, मानों बीहड़ जंगलमें लाकर खड़ा कर देता है। विश्व-रचनाकी पूर्व स्थितिकी अगम्यता और दुर्बोधताको समझानेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी है । क्या सुन्दर प्रकार है ?

माया०—महाराज, एक २ भागको लेकर तनिक विस्तार करेंगे ?

महा०—यह तो होगा ही । पहिली बात तो आप सबको स्पष्ट ही जंच जावेगी। दूसरे पादके अन्तसे चलते हैं । क्रम २ से बुद्धिकी आंख द्वारा पीछे २ हटते २ उस समय तक जानेका साहस करो, जब अभी धूली न उठी थी और न दूरवर्त्ती आकाश दिखाई देता था। वह कौनसी अवस्था थी ? जब एक एक अणु पृथक् २ होकर अव्यक्त दशामें लीन हो चुका था। जो कुछ था, सब शान्त सोया पड़ा था । धूलीका क्या अर्थ है ? धूली उठती है, जब इधर उधर गति होती है । वायुमें गुबार सा छा जाता है । जब किसी अनिर्वचनीय निमित्तकी प्रेरणासे आरम्भिक गति होती है, तो उसके पीछे ही

धूली उड़ती है। अर्थात् सूक्ष्मसे सूक्ष्म कारणोंकी रगड़ झगड़ आरम्भ होती है । उसी धूलीका परिणाम है लोक, लोकान्तरोंकी रचना । इसीलिये पीछे आकर 'रजस्' शब्द लोकोंका वाचक भी होगया । परन्तु इसका मौलिक संकेत वह गति है, जो पदार्थोंके मध्यमें परस्पर आकर्षण या अपाकर्षणसे पैदा होती है। तो हम उस दशाकी कल्पना कर रहे हैं, जब इस गतिका भी कोई पता न था ।

सत्य०—जब ऐसी बात है, तो आकाशका दिखाई न देना भी स्वाभाविक है।

महा०—है तो स्वाभाविक, पर वेद बातको और पुष्ट करनेके लिये यह इशारा करता है। असलमें जहां तक अन्तरिक्षमें धूलिका संचार रहता है, वहीं तक हमारी आंखके सामने आकाशकी नीलिमाकी प्रतीति होती है । परन्तु आकाश तो उसके आगे अनन्त है । विस्तारके आगे विस्तार चला जाता है। परन्तु उस अवस्थामें यह विभाग भी नहीं हो सकता होगा कि यहां तक तो धूलीका विस्तार है और वहांसे आगे अनन्त आकाशका। जो कुछ था, अविभक्त था। उसमें वरे और परेका विवेक संभव न था। वह सत् न था। अर्थात् जो कुछ यह विश्व अब "है", यह तब न था।

वस्तु०—तो क्या 'असत्' था ?

महा०—नहीं, यह भी नहीं । असत्से सत्की उत्पत्ति असम्भव होनेसे, वेदने सबसे पूर्व इस बातको ही स्पष्ट किया है। जगत् भावरूप है। यह अभावसे पैदा नहीं हुआ। हां इसके वर्त्तमान व्यक्त परिणामकी तहमें 'अव्यक्त' का आधार मौजूद

है। उसको सत् होते हुए भी सत् नहीं कहते, क्योंकि वह अव्यक्त सत् इस व्यक्त सत्से भिन्न ही होगा। वस्तुतः हमारे पास कोई साधन नहीं, जिसके द्वारा स्वयं उसे समझ सकें या अन्य किसीको समझा सकें। यही बात दूसरे भागमें स्पष्टकी है। था अवश्य कुछ, पर क्या था, इसका कुछ मत पूछो। कौन किसके सहारे खड़ा था? कौन किसमें ढक रहा था? क्या कोई चेतन तत्त्व किसी अन्य चेतनके कल्याणके लिये यह तन्तु बुननेवाला था? सोचो, सोचो और फिर सोचो। वेद आध्यात्मिक प्रेरणा करता है, पर इशारेके रूपमें। हां, यह अन्तमें 'आदिमें जल था और जलसे सबकी उत्पत्ति हुई'—इस प्रकारके विचारोंको धक्का देता हुआ, ध्यानको परम कारणकी ओर प्रेरित करता है। वेद वहां जा पहुंचा है, जहां जलादि पदार्थोंका नाम भी नहीं। इनकी उत्पत्ति तो बहुत स्थूल परिणामका विषय है। इस प्रकार साधारण कल्पनाओंसे बुद्धिको निकालकर, अव्यक्त अवस्थाका चित्र और बलपूर्वक खींचने और परम कारण, एक आध्यात्मिक तत्त्वका संकेत करनेके लिये, दूसरा मंत्र चलता है।

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राञ्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥"

अर्थः—(तर्हि) तो (न) (मृत्युः) मौत (आसीत्) थी [और] (न) (अमृतं) अमृत (न) (रात्र्याः) रातका [और न] (अह्नः) दिनका [कोई] (प्रकेतः) निशान (आसीत्) था। (तत्) वह (एकं) एक (स्वधया) स्वधाके साथ (अवातं) विना वायुके

(आनीत्) प्राण धारण करता था। (ह) निश्चय करके (तस्मात्) उससे (परः=परस्तात्) परे (किञ्चित्) कुछ (अन्यत्) और (न) (आस) था ॥ २ ॥

उप०—महाराज, यह तो और भी विलक्षण बात है। प्रत्येक भागमें परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है। यदि मौत न हो, तो अमृत तो होगा ही। यह कैसे हो कि दोनों ही न हों। दिन न हो तो रात हो, रात न हो तो दिन हो। वायु भी न हो और सांस भी चले! भगवन्, यह तो विचित्र साहित्यिक रचना है। आपके मुखारविन्दसे कुछ व्याख्या सुनकर ही इस विरोधका समाधान होगा और फिर भेद खुलेगा।

महा०—मृत्यु और अमृत सापेक्ष शब्द हैं। उस अवस्थामें तो सारा विश्व, परम कारणमें लीन होकर एकमय होरहा था। इसी कारण, मृत्यु और अमृत्युका विवेक कैसे हो सके? जो भाव इन शब्दों द्वारा इस समय हमारी बुद्धिमें पैदा होता है, वह उस भेदपर आश्रित है, जो नाशवान् और अविनाशी पदार्थोंमें हमने कल्पना कर रखा है। सच पूछो तो हम केवल नाशवान् पदार्थोंको देखते हैं। बुद्धिकी प्रेरणासे इनके मुकाबिलेमें अमृत पदार्थोंकी कल्पना करते हैं। कमसे कम, उस समय, जिसका वेद वर्णन कर रहा है, नाशवान् पदार्थोंका विस्तार ही न था। ऐसी दशामें दूसरी भेद-कल्पनाकी भी कोई गुंजायश नहीं रहती। और तो और, समयकी कल्पना भी निर्मूल हो जाती है। यों ही समझानेके लिये उत्तरकालीन भाषाके 'जब, तब' आदि शब्दोंका प्रयोग किया जा रहा है। स्वयं सोचो, जब सूर्य न हो, चांद न हो, तारागण न हों,

समयका क्या ठिकाना रहेगा? मृत्युका भी समयसे ही संबन्ध है। एक समयमें एक पदार्थ प्रकट होता और दूसरेमें लोप हो जाता अर्थात् मर जाता है। जब समयका ही आधार निकल गया, तो मौतकी कल्पना भी जाती रही। ये सब भाव पदार्थोंकी व्यक्तियों और भेदोंपर आश्रित हैं। उस अवस्थामें तो जो कुछ था। वह एकरूप हो रहा था। फिर वही बात। रूपका क्या काम? इस शब्दका भी प्रयोग असंभव है। फिर समझावें, तो कैसे समझावें! इसी समस्याको सुलझानेके लिये, वेदने इस विचित्र, पर अत्यन्त सुन्दर शैलीका आश्रय लिया है।

वस्तु०—और, महाराज, वह एक पदार्थ जड़ था या चेतन?

महा०—वेदका उत्तर बड़ा प्रभावपूर्ण है। वह एक पदार्थ ऐसा था कि वह प्राण धारण करता था अर्थात् चेतन था। परन्तु उसका प्राण यह साधारण वायु न थी, क्योंकि इसकी उस समय उत्पत्ति कहां? उस परमाध्यात्मिक तत्त्वको एक साथ बताया भी गया है और सब भूत, भौतिक जगत्से विलक्षण भी समझा दिया है। वह एक अर्थात् केवल, शुद्ध-स्वरूप था, परन्तु 'स्वधा' उसके साथ थी। अर्थात् जो कुछ इस विश्वका मूल, अव्यक्त स्वरूप था, वह उस जगदीश्वरमें धारण हो रहा था। इसी लिये 'स्वधा' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी बातका विस्तार चौथे चरणमें पाया जाता है। जो कुछ था, उस 'एक' के अन्दर था। वह व्यापक सत्ता सबको घेर रही थी। उसीकी ओर संकेत करते हुए प्रथम मंत्रमें प्रश्न

किया गया था, 'कौन ढांप रहा था' ? जिस प्रकार चेतनकी सत्तासे एक २ पिण्ड सजीव हो रहा है, उसी प्रकार उस समय भी और अब भी सारा ब्रह्माण्ड प्रभुकी सत्तासे गतिमान् हो रहा है। वही इसे अपने अन्दर धारण करता है। जगत् आविर्भाव और तिरोभावके भेदसे भिन्न २ होता रहे, परन्तु प्रभुकी एकतामें कोई भेद नहीं आता। हां, एक समयमें उसकी महिमाका प्रकाश हो रहा होता है। दूसरी अवस्थामें, वह उसका एक प्रकारसे संकोच कर लेता है। इसी अवस्थाकी ओर इस मंत्रका इशारा है।

माया०—क्या यह तात्पर्य तो नहीं कि परब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ न था ?

महा०—यह भाव प्रतीततो नहीं होता। हां, भाष्यकारोंने ऐसा भी लिया है।

शून्य०—महाराज, ऐसी अवस्थामें ठीक अर्थकी जांच कैसे हो ?

महा०—ऋषियोंने इस विषय पर बड़ा विचार किया है। वाक्य, प्रकरण, उपक्रम और उपसंहारका यथावत् विचार करनाही शास्त्रीय तर्क कहलाता है। इसके ठीक २ प्रयोगसे यथार्थ अर्थकी प्रतीतिहो जाती है। परन्तु प्रत्येक भाष्यकार इस साधनका प्रयोग अपनी २ बुद्धि तथा नीतिके अनुसार करता है, इस लिये सारा भेद हो जाता है।

माया०—तो क्या यहां पर इस मीमांसा द्वारा हमें कुछ विशेष सहायता मिलती है ?

महा०—अवश्य। पहिली बात तो यह है कि जगत्‌को असत् न कह कर, कारणावस्था में अव्यक्त और अनिर्वचनीय कहा है। दूसरे मन्त्रमें उस अव्यक्त जगत्‌को ब्रह्म-तत्त्वमें घिरा हुआ कहा है। उसकी भिन्नताका खण्डन नहीं किया है।

वस्तु०—चौथे चरणका ऐसा अर्थ भी तो किया जाता है अर्थात् 'उससे (परः) भिन्न अन्य कुछ न था'।

महा०—इस प्रकारसे 'अन्यत्', (और) जो नपुंसक पद है, 'परः', जो (इस पक्षमें) पुल्लिंग शब्द है, के साथ जोड़ना पड़ेगा। यह भाषा के प्रयोगके विरुद्ध है।

सत्य०—क्या लौकिक भाषाके नियम वेद्‌में भी लगते हैं?

महा०—साधारणतया लगते ही हैं! हां, कहीं २ अन्तर भी है।

वस्तु०—हमें तो ऐसा बताया गया था कि वेद्‌में व्याकरणके सब नियमोंमें व्यत्यय हो जाता है।

महा०—इस बातको मात्रासे अधिक खींचा गया है। कहीं २ अपवाद होनेसे उत्सर्ग नियमोंकी सामान्य प्रधानतामें भेद न पड़ना चाहिये। व्यत्यय वहीं पर समझना उचित है, जहां प्रकरण, तर्क आदि सब विचार बाधित करें और अन्य कोई व्याख्या संगत न बैठती हो। यहां पर सर्वव्यापकताका अर्थ करनेसे संगति अच्छी लगती है। इस लिये भिन्नताका खण्डन करनेके लिये, शब्दोंको व्यर्थ घसीटना उचित नहीं।

सत्य०—संहारकी अवस्थामें प्रादुर्भाव कैसे हुआ?

महा०—इसका उत्तर भी सुनिये।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(अग्रे) पहिले (तमः) अन्धेरा (तमसा) अंधेरेसे (गूढं) ढका हुआ (आसीत्) था; (इदं) यह (अप्रकेतं) अप्रकट [होता हुआ भी] (सर्वं) सारा (सलिलं) फैला हुआ (आः) था। (यत्) जो (एकं) एक (आभु) सर्व ओर विद्यमान [देव] (तुच्छ्येन) सूक्ष्मतासे (अपिहितं) ढंक रहा (आसीत्) था; (तत्) वह (तपसः) तपकी (महिना) महिमासे (अजायत) प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

पूर्वार्धमें अव्यक्त विश्वकी दुर्ज्ञेयता और सत्यताको दूसरे प्रकारसे वर्णन करके, उत्तरार्धमें सृष्टिके विस्तारके मूलकारणकी ओर प्रेरणाकी गयी है। जब अन्धेरेके इर्द गिर्द प्रकाश हो, तो सिरों पर वह पतला पड़ जाता और मध्यमें गहरा होता है। यह अवस्था इस प्रपञ्चसे पूर्वकी कही जा सकती है। अमावस्याकी आधी रातका अन्धेरा उस अन्धेरेके सामने प्रकाश समझा जा सकता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी, यह नहीं कि यहां कुछ मौजूद न था। न यह अभाव था और न यह मिथ्या था। यह सूक्ष्मसे सूक्ष्म, अव्यक्त भाव-पदार्थ था, जो सर्वत्र विद्यमान था।

लोक०—महाराज, वह दिखाई क्यों न देता था? क्या इस लिये तो नहीं, कि देखने वाला ही कोई न था?

महा०—तुम्हारी बात तो ठीक है। पर वेदका इधर इशारा प्रतीत नहीं होता। तीसरे पादमें यह बताया गया है कि

वह 'एक' चेतन तत्त्व, स्वयं एकरस रहता हुआ भी, प्रपञ्च तथा संहारके विचारसे दो प्रकारसे कहा जाता है। वह अपनेसे भिन्न, परम विस्तारवाली, प्रकृतिको अपने अन्दर घेरता हुआ, स्वयं अनन्त है। 'सर्व' उसमें समारहा है, पर वह 'सर्व' से परे भी है। इस लिये वास्तवमें 'सर्व' वह स्वयं ही है। संहारकी अवस्थामें, उसके अन्दर समाने वाला 'सर्व' व्यापक तो रहता है, पर दृष्टिसे ओझल हो जाता है। जब वह स्थूल दशामें रहता है, तो विचारकी आंख उसकी तहमें व्यापक परमदेवको भी देख लेती है। परन्तु संहारकी अवस्थामें यह असंभव हो जानेसे, मानो, घिरने वाला ' सर्व ' और घेरने वाला ' सर्व ' पर्देके पीछे चले जाते हैं। कारणावस्थामें कोई व्यक्ति-भेद न होनेसे, दोनों प्रकारकी सत्ता अदृष्टिगोचर रहती है। इतना कहकर, वर्त्तमान प्रपञ्चका उससे अभेद बतलाते हुए कहा है, जो एक (प्रकृतिको अन्दर लिये हुए देव) इस प्रकार गुप्त हो रहा था। वही तपकी महिमासे प्रकट होगया। विश्वकी प्रेरक चेतन सत्ताका तप ज्ञान है। उस सर्वज्ञ विधाताके ज्ञानका ही यह विलास है। स्वयं जड़ प्रकृतिमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? यह प्रपञ्च क्या है, भगवान्के तप अर्थात् ज्ञानकी महिमा ही है। न केवल विश्वका विकास होता है, वरन् उसके साथ ही भगवान्का भी प्रकाश हो जाता है। एक २ पदार्थ उसीका बखान कर रहा है। उसीकी ज्ञानमयी प्रेरणासे अव्यक्तमें गति पैदा होकर तप अर्थात् गरमी पैदा होती है और उसकी महिमासे अर्थात् उसके क्रम २ से बढ़नेसे हिरण्यगर्भ आदि अवस्थाओंमेंसे होकर, नाना लोक, लोकान्तरोंके अनन्त विभागोंमें विभक्त, आश्चर्यमय

जगत्का विकास होता है। इस प्रकार वेदके एक शब्दने दोनों ओर संकेत करके, आध्यात्मिक तथा भौतिक प्रवृत्तिका एक साथ व्याख्यान कर दिया है। आगे दूसरे प्रकारसे इसीका विस्तार है।

"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।"

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

अर्थः—(यत्) जो (प्रथमं) प्रथम (मनसः) ज्ञानका (रेतः) बीज (आसीत्) था, (तत्) वह (अग्रे) आगे (कामः) संकल्प [के रूपमें] (अधि समवर्तत) विकसित हुआ। (कवयः) मर्मवेदी विद्वानोंने (हृदि) अन्तःकरणमें (प्रतीष्य) विचार करके (मनीषा) अनुभव-बुद्धि द्वारा (सतः) [स्थूल] प्रपञ्चके (बन्धुं) [मूल] सूत्रको (असति) अव्यक्त [सूक्ष्म कारण] में (निः—अविन्दन्) ढूंढ निकाला ॥ ४ ॥

संहारसे पीछे और सर्गसे पूर्व विश्वकी अवस्था निश्चल, गतिरहित, आकाररहित, अदृष्टिगोचर, सोयी हुई कह आये हैं। पूर्व मन्त्रमें इस विश्वके आधारकी ज्ञानमयी प्रेरणाकी ओर भी संकेत किया गया है। उसी प्रेरणाका मूल स्वरूप इस मन्त्रमें काम अर्थात् संकल्प कहा है। प्रभुके नित्य ज्ञान-सरोवरमें संकल्प-तरंग उठा और अव्यक्त विश्व जाग पड़ा। प्रभु-ज्ञानके तीन स्वरूप समझिए। मूल बीजरूप ज्ञान, जिसके द्वारा भगवान् सर्ववित्, त्रिकालदर्शी होता हुआ, सृष्टि और संहारके लिये उचित कालको जानता है। दूसरा स्वरूप संकल्प या इच्छा है, जिसके द्वारा भगवान्की ओरसे मौलिक प्रेरणा होती

है। तीसरा स्वरूप विधानात्मक ज्ञान है, जिसे तपका नाम दिया गया है। इसके आधारपर ही इस अनन्त विश्वके अनन्त क्रमबद्ध विकासमें सुन्दरता, पूर्णता, विचित्रता, नियमबद्धता आदि अनेक आश्चर्यजनक भाव पाये जाते हैं। उद्भूत संसारके यही गुण हैं, जो इनके मूल स्रोत, परम चेतनकी ओर संकेत करते हैं। इनका विस्तार क्या है? पताकाएं हैं, जो प्रभु-प्रासादके द्वार तक संसार-पथिकको पहुंचा देती हैं।

सत्य०—महाराज, प्रभुका यह तीन प्रकारका ज्ञान नित्य होनेसे सृष्टि नित्य होनी चाहिये। इसका क्या कारण है कि विशेष समयपर इसका आरंभ हो?

महा०—कुछ भूल रहे हो। सृष्टि और संहार एक ही रचनाके चित्रके दो भिन्न २ स्वरूप हैं। दिन और रातके चक्रकी नाईं ये नित्य घूमते रहते हैं। इस चक्रका नित्य चलना ही प्रभुके ज्ञानकी नित्यताका फल है।

वस्तु०—ये दो स्वरूप क्यों हैं? एक ही प्रकारसे विश्व क्यों स्थिर नहीं होता?

महा०—जैसे सूर्य्यकी प्रदक्षिणा करती हुई पृथिवी दिन और रातके क्रमबद्ध दृश्यको देखती है, इसी प्रकार विश्वकी आन्तरिक, नित्य गतिका ही यह अनिवार्य परिणाम है, जो सर्ग और संहार चक्र चलता है।

वस्तु०—यह गति क्यों है?

महा०—इसका उत्तर यथार्थमें मेरे पास नहीं है। शायद विना गतिके आकाशमें विश्वका धारण ही असंभव हो। अतः यही कहा जा सकता है कि संसारके स्वरूपके अनुसार यह

उसका स्वाभाविक धर्म है। अग्नि क्यों जलाती है? पानी क्यों गीला करता है? बेटा, एक प्रश्न होता है और एक अतिप्रश्न होता है। यह तुम्हारा अतिप्रश्न है।

उप०—महाराज, अतिप्रश्न कैसा होता है।

महा०—हमारी बुद्धिका विस्तार अनन्त नहीं है। विश्व अनन्त है। इसका मूल कारण अनन्त है। हम बेबस हैं, हमारी दौड़ कुछ दूरी तक होती है, आगे मार्ग बन्दसा होजाता है। जिस ओर भी सोचने लगें, एक सीमासी आजाती है। उसके आगेकी बात पूछना ही अतिप्रश्न कहलाता है।

लोक०—तो फिर तर्क उठानेका लाभ ही क्या हुआ, यदि इसके द्वारा प्रत्येक बातके अन्त तक नहीं पहुंच सकते?

महा०—यही कि जहां तक पहुंच सकते हैं, वहां तक भ्रम और मिथ्या-विश्वाससे बचकर ठीक पहुंच जावें। एक आदमी लण्डन जानेका सामर्थ्य नहीं रखता। तो क्या मुंबई जाकर भी वह अपना जीवन-मार्ग न ढूण्ढे? और, यदि मुंबई जाता है, तो रेलवे-शास्त्र द्वारा सीधे मार्गकी जांच करके, कमसे कम समय और कमसे कम खर्चमें क्यों न पहुंचे?

सत्य०—महाराज, बुद्धि अपनी सीमापर जाकर रुकती है, पर तृप्त नहीं होती। आगे, अन्धेरेको चीरकर, पर्देको फाड़कर, तत्त्व-ज्ञानकी लालसा बनी रहती है।

महा०—प्यारे, यह एक संकेत है। इससे एक रहस्यका परिचय होता है। और, वह यह है कि इस क्रम २ से विकासशील विश्वमें, प्रत्येक व्यक्ति पूर्णताकी तलाशमें दौड़ रहा

है । इस सब हृदयोंमें पायी जाने वाली, कभी न दबने वाली तड़पका कुछ अर्थ है । यह कब पूरी होगी ? वेदका यह सन्देश है कि भगवान्की आराधनासे जब उसका साक्षात्कार होगा, तभी यह त्रुटि पूरी होगी । तब तक इस चक्रमें घूमना होगा, पुरुषार्थ करना होगा । सौ वार दिल रह जावेगा, पर फिर मोह छोड़ कर, उठ खड़ा होना होगा । अच्छा, तो इस चर्चाको अभी इतना ही रहने दें । देखिए, मन्त्रके उत्तरार्धमें इसी तलाशके साधन, मार्ग और परिणामका चित्रसा दिया गया है ।

माया०—महाराज, क्या प्रत्येक व्यक्ति इस तलाशका अधिकारी है ?

महा०—इच्छा तो थोड़ी बहुत सबमें देखते हैं, परन्तु अधिकारमें भेदभी दिखाई देता है । साधारण जनताकी बुद्धि प्रश्न तो वही उठाती है, परन्तु सन्तुष्ट हो जाती है साधारण ही उत्तरसे । उनके लिये युक्तिकी खड्ग लेकर, भ्रमात्मक विचारों, कपोलकल्पित विश्वासों, व्यर्थ आडम्बरों और पाखण्डके जालोंको चीरते हुए निकल जाना कोई आसान काम नहीं है । वेद कहता है, इस मार्गपर वस्तुतः चलनेके अधिकारी वे ही हो सकते हैं, जो 'कवि' हों ।

उप०—कवियोंमें क्या विशेषता होती है ?

महा०—तुकबन्दी करने वालेका यहां अभिप्राय नहीं है । जो बातकी तह तक जाने वाला हो, जो पर्देको फाड़कर मर्मको जानने वाला हो, जो साधारण घटनाके असाधारण कारणको समझने वाला हो, उसी चमत्कारक, प्रतिभाके धनीको कवि समझो । ऐसे सज्जन जब अन्दरकी दीप्तिसे हृदय-मन्दिरमें

प्रवेश करके, बाहिरके द्वार बन्द करते और आत्मनिष्ठ होजाते हैं, तो बहुत दूरके समाचारको लाते हैं।

उप०—तो तलाश बाहिर होगी या अन्दर ?

महा०—अन्दर। बाहिर जिस बीजका विस्तार है, उसका केन्द्र हृदयके अन्दर है। जिन लोगोंने बाहिर के जंगलोंके पत्ते २ को देखा भाला है, उनका अन्तिम अनुभव ऐसा ही है। बाहिरका प्रत्यक्ष बहुत दूर ले भी नहीं जाता। चारों ओर बाड़ सी लग रही है। वहां तक पहुंच कर स्वयमेव बाहिरकी आंख बन्द होकर, विचारकी आंख खुल जाती है। पश्चिमी विद्वान् इस अनुभव-नेत्रके स्तोत्र अब गाने लगे हैं। भारतके ऋषियोंने असंख्य वर्ष पूर्वसे इसकी शक्तिकी साक्षी दे रखी है।

लोक०—आंख बन्द करनेपर अन्दर अन्धेरा ही अन्धेरा प्रतीत होता है।

महा०—साधनाकी आवश्यकता है। बाहिरकी शक्तियोंका प्रयोग भी अभ्याससे ही बढ़ा है। वेदने कहा है कि 'मनीषा'से युक्त होकर 'कवि' हृदयमें 'उस'की तलाश करते हैं और यत्न करते २ ढूण्ड ही पाते हैं। इस तलाशका परिणाम क्या हुआ ? उन्होंने सत्‌के सूत्रको असत्‌में पाया। अर्थात् दृश्यमान प्रपञ्चके क्रमबद्ध विकासकी लड़ीको जोड़ते २ वे परम सूक्ष्म, अदृश्यमान, मूल कारण तक जा पहुंचे। उनकी अनुभव-दृष्टिके सामने, मानो नये सिरेसे सर्ग-क्रमका नाच होने लगा और उन्होंने इसके एक २ अंगसे परिचय प्राप्त किया। इसी भावको अगली ऋचामें बताते हैं।

(५) तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधःस्विदासी३दुपरि-स्विदासी३त्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥

अर्थ—(एषां) इन [कवियों] की [अन्तः करण की] (रश्मिः) किरण अथवा डोरी (तिरश्चीनः) आर पार (विततः) फैल गयी; [फिर] (अधः) नीचे (स्वित्) क्या (आसीत्) था ? [और] (उपरि) ऊपर (स्वित्) क्या (आसीत्) रह गया ? [उनकी दृष्टि के सामने] (रेतोधाः) बीज धारण करने वाले [भी] (आसन्) थे, [और] (महिमानः) विस्तार पाने वाले [भी] (आसन्) थे; (अवस्तात्) इधर (स्वधा) स्वधा [का दर्शन हुआ, और] (परस्तात्) उधर (प्रयतिः) प्रेरक [का दर्शन हुआ] ॥५॥ *

उन कवियोंकी आर्ष दीप्ति इस रहस्यमय प्रपञ्चके अन्दर कार्यका कारणके साथ संबन्ध जोड़नेमें सफल हुई। उसका

---

* किनकी रश्मिका विस्तार अभिप्रेत है ? स्वभावतः, जिनका पूर्व मन्त्रमें वर्णन आया है। यही मूलगत अर्थका हेतु समझना चाहिये। सायणाचार्य ब्रह्म, माया और पूर्व सर्गके शेष कर्मकी ओर संकेत करता है। परन्तु यह अपने मनमाने विचारोंको वेदके गले मढ़ना होगा। एक आधुनिक लेखकने ब्रह्म, जीव और प्रकृतिका ग्रहण करके, अपने ही तीसरे मन्त्रके अन्दर आये हुए 'एकं' के अर्थके साथ विरोध कर दिया है। ग्रिफिथको एक मन्त्रके लोप हो जानेका सन्देह है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रकरणोंका अर्थ थोड़ी बहुत कल्पनाके विना संभव भी नहीं प्रतीत होता। कल्पनाकी साधुताकी परीक्षा पूर्वोक्त शास्त्रीय तर्क है। पाठकगण उसका ठीक २ प्रयोग करें।

सारे हृदय-मन्दिरमें प्रकाश हुआ और उन्होंने सारे विश्वका अपने अन्दर स्वरूप देखा। नीचे ऊपर क्या और आर पार क्या, उनके सामने सारा भेद खुल गया। उन्होंने देखा कि इस विश्वकी तहमें दो प्रकारके पदार्थ हैं। एक तो हैं बीजको धारण करने वाले, सूक्ष्म कारणभूत तत्त्व। दूसरे हैं, उस बीज-शक्तिके विस्तारसे बढ़ने वाले, फैलने वाले, विभूतिमय पदार्थ। इन दोनोंका और आगे बढ़ कर संबन्ध जोड़ने से, उन्होंने स्वधा अर्थात् मूल प्रकृतिके दर्शन किये। उसी एकके अन्दर सूक्ष्म और विस्तार वाले भावोंका उन्होंने समावेश देखा। वे और आगे बढ़े और प्राकृतिक प्रपञ्चको परे छोड़ कर, इससे परे अर्थात् इससे अधिक व्यापक एक और प्रयत्नकी मूल भूत, आध्यात्मिक प्रेरक सत्ताको अनुभव करके निहाल हो गये।

सत्य०—महाराज, क्या उनसे कोई भेद छिपा न रहा।

महा०--बेटा, यह कौन जाने और कौन कहे। उनके सामने संसारका स्वरूप सूक्ष्मरूपमें आया अवश्य, पर अधिकारि-भेदसे उन्होंने कितना २ ठीक देखा, यह कौन कहे? इस लिये सूत्ररूपमें ही इस अद्भुत रचनाका संकेत करके, वेद इसकी यथार्थ अगम्यता और दुर्बोधताकी ओर पुनः अगले मन्त्रों द्वारा खींच ले जाता है। यह किसीको मत अभिमान पैदा हो कि भगवान्के समस्त रहस्योंको हम किसी प्रकार भी पा सकते हैं। मुझे तो कुछ ऐसी प्रतीति होती है कि भगवान्का मिलना आसान है, पर उसकी महिमाका पाना कठिन है।

(६) को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव ॥६॥

अर्थ —(कः) कौन (अद्धा) ठीक २ (वेद) जानता है ? (इह) यहां (कः) कौन (प्र-वोचत्) सुझावे ? (इयं) यह (विसृष्टिः) विचित्र रचना (कुतः) कहां से [और] (कुतः) कैसे (आ जाता) हो गयी ? (देवाः) देवता (अस्य) इस [विश्व] के (विसर्जनेन) प्रकाशसे (अर्वाक्) इधर [हुए हैं], (अथ) तो [फिर] (कः) कौन (वेद) जानता है (यतः) जहां से [यह रचना] (आ बभूव) सम्पूर्णरूपसे बन गयी ॥६॥

वस्तुतः यह विषय मनुष्यकी बुद्धिकी पहुंचसे परेका है। जब इसका ठीक २ समझना असंभव है, तो दूसरेको समझानेका दम भरने वाला बड़ा ही दिलेर होना चाहिये। इसके मूल कारणके स्वरूपका भली भान्ति परिचय किसीको हुआ भी ? यह भी वही जाने, जो स्वयं वैसा हो जावे ।

वस्तु०—प्राचीन ऋषि भी और नये विद्वान् भी भिन्न २ उपादानोंसे सृष्टिको हुआ २ बताते हैं। सूर्य, जलादि देवताओंका कारणभावसे शास्त्रोंमें वर्णन आया है । आज कल भी पृथिवीको सूर्यसे पैदा हुआ २ ही माना जाता है। इसी प्रकार और स्थूल सूक्ष्म कई प्रकारके तत्त्वोंकी लोग विवेचना किया करते हैं ।

महा०—इसका तो इस मन्त्रमें क्या सुन्दर उत्तर दिया गया है । सूर्य और जल जगत्के कारण नहीं । वे तो उत्पन्न हुए २ जगत्के अंग हैं। उनसे असंख्य गुणा सूक्ष्म रचना उनसे

भी पूर्व अवश्य हुई होगी। यही बात कम अधिक सब प्रकारके वर्णित कारण—तत्त्वोंमें घटायी जा सकती है। उपादानका कुछ पता चलने लगता है, तो निमित्तका ठिकाना नहीं। निमित्तसे चलते हैं, तो उपादानका कुछ सार नहीं मिलता। जहां तक बुद्धि जाती है, वह इस अनन्त रचनाके क्रममें पड़ाव सा प्रतीत होता है। उस समय अन्दरसे ऐसा अनुभव होता है कि यह विषय अभी और सूक्ष्म है। यात्रा लम्बी प्रतीत होती है, पर आगे बढ़नेकी शक्ति दिखाई नहीं देती। इसलिये वेद सच कहता है। कि कौन वास्तविक मूल स्वरूप तक जा सकता है। इस संकेतसे यह कोई न समझे कि वेद आध्यात्मिक सत्ताकी प्रेरकतामें सन्देह करता है। वेदका आशय यह है कि विश्व भी है और विश्वका आधार भी है। एकका स्थूल आंखसे और दूसरेका सूक्ष्म नेत्रसे अनुभव होता है, पर जहां दोनोंकी सत्तासे इनकार करना मूर्खता होगी, वहां दोनोंके यथावत् ज्ञानको प्राप्त कर सकनेकी डींग मारना इससे भी अधिक मूर्खताकी बात होगी। इसी भावसे अन्तिम मन्त्र द्वारा उपसंहार किया जाता है।

(७) इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

अर्थः—(इयं) यह (विसृष्टिः) विविध रचना (यतः) जिस [मूल] से (आ-बभूव) प्रकट हुई, [वह इसे] (यदि वा) क्या (दधे) धारण करता है (वा न) या नहीं? (यः) जो (परमे) परम (वि-ओमन्) विस्तारमें (अस्य) इस (प्रपंच) का (अध्यक्षः)

स्वामी [है] (अंग) मित्र ! (सः) वह वेद) जानता है (यदि वा) या (न) नहीं [जानता] ?? ७ ??

यह विविध रचना हमारे सामने है । इसके लिये प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं । यह मिथ्या नहीं । ऐसी सुख, दुःखके अनुभवसे प्रतीत भी होती है । प्रतिक्षणके परिवर्त्तनसे यह अनुमान करना भी विशेष कठिन नहीं है कि यह सूक्ष्म स्थूलके क्रमसे उत्तरोत्तर विकसित होती रहती है । तो यह कहांसे आ जाती है ? क्या जो कुछ यह है, यह अपने ही अन्दर परिवर्त्तनका पर्याप्त बीज रखती हुई, स्वयं ही प्रकट होजाती है और फिर सूक्ष्मतामें लीन होजाती है । यदि यह बात है, तो प्रश्न होता है कि इसे धारण कौन करता है ? धारणका अर्थ है, नियम पूर्वक चक्रका संचालन । ऐसा नियम प्रत्येक पदार्थकी रचना और गतिमें प्रतीत होता ही है । अतः यह तो नहीं हो सकता कि केवल जड़ जगत् स्वयं प्रकट भी होजाया करे और अपनी नियमानुसार स्थितिको भी कर लिया करे । किसी अन्य चेतनकी अवश्य अपेक्षा है । यह भाव है जो इस मन्त्रके पूर्वार्धसे निकलता हुआ प्रतीत होता है* । तीसरे पादमें उस चेतन

---

* पंचमी (यतः) का प्रयोग उपादान कारणकी ओर संकेत करता है। उसीके साथ दूसरे पादके प्रश्नका सम्बन्ध करके यह विचार निकलता है कि जिस उपादान कारणका यह विश्व व्यक्त विस्तार है, वह इसे धारण और संचालन तो स्वयं नहीं कर सकता । ब्रह्मको उपादान माननेकी न शब्दोंसे और न प्रकरणसे ही कोई आवश्यकता प्रतीत होती है । विशेष रूपसे तीसरे पादमें ब्रह्मको अध्यक्षके रूपमें वर्णन किया गया है । उसकी ओर प्रेरणा करनेके लिये दूसरे पादमें प्रश्न-रीतिका प्रयोग समझना चाहिये ।

अधिष्ठात्री शक्तिका स्पष्ट संकेत करदिया गया है । जगत् स्वयं ही न पैदा होसकता है और न इसके अन्दर दिखाई देने वाले, अखण्ड प्रबन्धको चला सकता है । यहां तक तर्क जा सकता है । इससे कुछ आगे जाकर, अनुभव द्वारा उस चेतन, महाधारक शक्ति का दर्शन भी किया जा सकता है । परन्तु उसका वारापार नहीं पाया जा सकता । उसका विस्तार असीम है । इस भावको अन्तमें प्रश्न करके और वहीं छोड़ कर बड़ी निपुणतासे दर्शाया गया है । "क्या वह भगवान् भी इस रचनाको जानता है, या नहीं जानता" ? वेद कहता है, वही जानता है, पर मैं क्यों कर कह सकता हूं कि वह भी जानता है या नहीं जानता ? उसकी सत्ता का अनुभव होते हुए भी, उसकी महिमाको पूरा २ जानना मनुष्यके लिए संभव नहीं है ।

सज्जनो, इस प्रकार यह सूक्त समाप्त होता है । आश्चर्यके साथ ही यह आरंभ होता है और आश्चर्यमें ही यह लीन हो जाता है । इसके एक २ मन्त्र द्वारा विश्वकी अद्भुत विस्मयजनक रचनाके चमत्मारको बुद्धिपर प्रतिबिम्बित करते हुए, इस बातकी जिज्ञासा पैदा की गई है कि मनुष्य साधारण वासनाओंकी तृप्तिमात्रसे सन्तुष्ट न रह कर, अपने और संसारके स्वरूपको समझनेकी ओर प्रवृत्त हो । सीधा उपदेश न करके, कुतूहल द्वारा इस इच्छाको दृढ़ किया गया है । आने वाले प्रकरणोंमें आप देखेंगे कि वेदकी प्रेरणा करनेकी शैली कितनी प्रभाव-पूर्ण और गंभीर है । वेद केवल सन्देह नहीं पैदा करता । साथ २ संकेत करता हुआ; परम सत्यमें श्रद्धा भी पैदा करता है ।

नवम खण्ड

आध्यात्मिक विकासका क्रम

वस्तु०—महाराज, क्या सब मनुष्योंकी बुद्धि एक प्रकारकी होती है ?

लोक०—यह कैसे हो सकता है ? हम भी फिर तो ऋषि और कवि ही हो गये ?

सत्य०—भेद तो स्पष्ट दिखाई देता है। कारणका विवेचन होना चाहिए।

माया०—अपनी ही सब कहे जावोगे, या कुछ सुनने भी दोगे ?

महा०—मायाराम जी, घबरानेकी क्या बात है ? चर्चा ऐसेही चलती है। सुनने वालोंमें पहिले कुतूहलका पैदा होना बड़ा आवश्यक होता है। यदि सीधा उपदेश आरम्भ करनेसे पूर्व, सुनने वालोंको विषय उठाने और प्रश्न करनेका अवसर मिल जावे, तो उनका मन समाधानके लिए तय्यार हो जाता है। इसी संकेतमें आपके प्रश्नका उत्तर भी आ गया है।

शून्य०—वह कैसे, महाराज ?

महा०—सब मनुष्योंके सामने यह संसार चक्र एक समान चलता है। दिनके पीछे रात और रातके पीछे दिनका पर्याय बदलता रहता है। ऋतु २में भूमी और आकाशके चित्रमें भेद प्रतीत होता है। प्रातः सायंकी महिमा अलग २ है। रंग बिरंगके चित्र, विचित्र फूल अलग २ संदेश सुनाते हैं।

उप०—महाराज किन्हें ?

महा०—उपराम जी, जो उपराम न होकर इन पदार्थोंके पास जाकर जिज्ञासा और कुतूहलसे युक्त होकर खड़े होते हैं, उन्हें ये अवश्य कुछ न कुछ बताते हैं। ज्ञान, विज्ञानका मूल स्रोत कुतूहलमें है। जिन लोगोंके सामने यह संसारका नाटक ऐसे ही होता चला जाता है और उनमें साधारण भोजन आच्छादनके विचारके आगे और कोई सूक्ष्म विचार उठता ही नहीं, उन्हें पशुओंसे कुछ ही आगे विकसित समझो।

वस्तु०—क्या इसी बातमें मनुष्योंका परस्पर अन्तर पड़ता है ?

महा०—केवल इसीसे नहीं। हां इस कुतूहलका होना बुद्धिके चमत्कारका परिचय अवश्य कराता है।

सत्य०—उस कुतूहलसे क्या लाभ, जो केवल उकसाहट कर दे और पूरा समाधान न हो।

महा०—बिल्कुल ठीक। विज्ञानकी नदीका मूल स्रोत उस कुतूहलमें है और उसके बहावका बल समाधानके लिए किये जाने वाले पुरुषार्थसे बढ़ता है। जितना अधिक यह पुरुषार्थ किया जाता है, उतना ही अधिक प्रत्येक पदार्थ दिव्य संदेश सुनाता है। कुतूहल बालकके समान है। वह उत्तम विचारों और शिक्षाओंके कुलमें प्रेम पूर्वक प्रदान किये जाने वाली, पुष्टिकारक सामग्रीसे पूर्ण यौवन को प्राप्त होता है। वह और आगे बढ़ता है और सूक्ष्म दृष्टिकी प्रखर किरणों द्वारा पदार्थोंके अन्दर घुसता जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपने भेद खोल २ कर उसके आगे रखता जाता है।

वह और आगे बढ़ता है। दूसरोंके भेद लेनेसे ही सन्तुष्ट न हो कर, वह अपने ऊपर विचार करता है। बाहिरके नेत्र बन्द करके, हृदयकी अन्धेरी कोठरीमें छलांग लगा देता है उसकी दीवारोंसे टक्कर खाते ही, अन्दरका नेत्र खुल जाता है। अंधेरा प्रकाशमें बदल जाता है। वह आत्मवित् हो जाता है। यह मनुष्यका परम विकास है। यह विज्ञानकी परम सीमा है। जिन्हें इसकी प्राप्ति हो जाती है, वे वेदके शब्दोंमें ऋषि और कवि कहलाते हैं।

सत्य०—तो क्या, महारज, वेदमें इसी क्रमके अनुसार विकासका उपदेश पाया जाता है ?

महा०—हां, पाया जाता है। जिस कुतूहलरूपी बालकका अभी संकेत किया गया है, जिसका मनुष्यमें पाया जाना उसके भावी ऋषिपनका बीज समझा जा सकता है और जिसके न होनेसे मनुष्य मनुष्यके रूपमें साक्षात् पशु विचरता है, उसीका वर्णन वेद भगवान्‌ने एक सूक्तके पहिले मन्त्रमें किया है। इस सूक्तमें द्युलोक और पृथिवी लोककी विभूतियोंका दर्शन कराया गया है। वह कौन मनुष्य है, जो दिनके समय असंख्य प्राणियोंकी मातृरूप पृथिवीके और रातके समय, असंख्य तारागणके आधारभूत द्युलोकके दर्शन न करता हो ? परन्तु वे जन कितने हैं, जिनके हृदयतलपर पृथिवी और तारागणको देखकर प्रश्नोंकी झड़ीसी लग जाती हो ? जिस शुभ क्षणमें इन दिव्य पदार्थोंके परम रहस्यके दर्शन हो जावेंगे, उस समय, अवश्य, आनन्दके आंसुओंकी झड़ी लग जावेगी। परन्तु उस देवता-दर्शनसे पूर्व कुतूहल और जिज्ञासाको रम्य रीतिसे उठाना वेदने आवश्यक समझा है।

*(१) कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद ।
विश्वं त्मना विभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव ॥ ८ ॥*

ऋ० १ । १८५ । १ ॥

अर्थ—(कवयः) हे विद्वानो ! (अयोः) इन [भूमि तथा द्युलोक] मेंसे (कतरा) कौनसा [लोक] (पूर्वा) कारणरूप, पूर्ववर्ती [था और] (कतरा) कौनसा (अपरा) कार्यरूपी, उत्तरवर्ती [है]; [ये] (कथा) कैसे (जाते) जन्मे; (कः) कौन (वि) ठीक (वेद) जानता है ? (यत्) जो (ह) कुछ (नाम) निश्चयसे [पाया जाता है, उस (विश्वं) सबको [ये] (त्मना) अपने द्वारा (बिभृतः) धारण करते हैं; (अहनी) दिन रात (चक्रिया-इव) मानो, पहियोंसे युक्त हुए २ (वि-वर्तेते) घूमते रहते हैं ॥८॥

कौन पहिले बना ? पृथिवी लोक या द्युलोक ? सारे द्युलोकका ज्ञान तो बहुत दूर है । अपने सौर जगत्का ही विचार करो । क्या पृथिवीसे सूर्य बना या सूर्यसे पृथिवी बनी ? या, यह कि दोनोंका कोई संबंध नहीं है ? यह बात प्रतीत नहीं होती । अन्यथा दिन रातका चक्र क्योंकर चलता है ? क्यों पृथिवी सूर्यके इर्द गिर्द घूमती है ? पता तो निकालो, यह क्या बात है ? दिन रातका, लोकोंकी गतिका आधार, इन सबकी उत्पत्तिका मर्म, क्या है ? कौन ठीक २ जानता है ? क्या वस्तुतः ऐसा कोई भी नहीं । क्या संसारमें कोई पदार्थ ऐसा भी है, जिसके द्वारा इस बातका बोध हो सके ? यह कैसे हो सकता है ? जो कुछ दिखाई देता है, वह सब पृथिवी और द्यौ ने धारण कर रखा है । जब आधार न था, तो ये

पदार्थ भी न थे। इस लिये इनके द्वारा आधारका समाचार कैसे पावें? तो क्या कोई गति नहीं? सोचो, सोचो और सोचो। आंखें खोलो, खूब खोलो। स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर बढ़ो और फिर बढ़ो। अब आंखें खुली हैं और कुछ दिखाई नहीं देता। अब आंखें बन्द करो और फिर देखो। बढ़ते चलो और तब तक आंखें मत खोलो जब तक अन्दरका प्रचण्ड प्रकाश बाधित न करे। समय आवेगा, जब पृथिवी और द्युलोककी समस्या के साथ दूसरी भी अनेक समस्याएं सुलझ जावेंगी।

सत्य०—महाराज, यह विचित्र प्रकारका वैज्ञानिक उपदेश है। पर मंत्रके शब्दोंमें तो केवल प्रश्न ही पाया जाता है।

महा०—और वेदके प्रश्नोंको उठानेके प्रकारको दर्शानेके लिये ही मन्त्र पढ़ा गया है। प्रश्न प्रश्नके साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। प्रश्नके साथ विकासका बीज पड़ता है। फिर पूर्व कहे प्रकारसे पुरुषार्थ होकर, वेदमें गाये हुए स्तोत्रोंके नायक भौतिक देवताओं और उनके परम कारण, महानायक जगदीश्वरका अनुभवरूपी सुकर पुष्प खिलता है।

सत्य०—महाराज, इस क्रमके प्रदर्शनके लिये वेद भगवान्से कोई मन्त्र सुनानेकी कृपा करें।

महा०—सुनिए। आठवें मण्डलके सौवें सूक्तमेंसे नेम नामके ऋषि और इन्द्रका सम्वाद सुनाता हूं।

वस्तु०—महाराज, क्या वेदमें भिन्न २ लोगोंके सम्वाद पाये ज़ाते हैं?

महा०—वेदके अन्दर अधिकार-भेदसे सकल मानव-समाजके लिये उपदेश पाया जाता है। जिस प्रकार आध्यात्मिक

सच्चाईका साक्षात्कार करके मनुष्य ऋषि-पदको प्राप्त होता है, यह सब बात आपको समझायी ही थी। अब आध्यात्मिक सच्चाइयोंकी परम सच्चाई, प्रत्येक पदार्थमें ईश्वरकी विभूतिमय सत्ताका दर्शन ही कहना चाहिये। ऐसा दर्शन करने वाला प्रत्येक भौतिक भावकी तहमें और उसके पीछे भगवान्के हाथको अनुभव की आंखसे देखता है। प्रत्येक पदार्थ उससे, मानो, बोलने लग जाता है। नहीं २, वह ध्यानमें उस पदार्थके भौतिक चोलेको चीरकर, उसके अन्दर और बाहिर बसे हुए भगवान्से बातें करता है और साक्षात् प्रभु उसे अपना मधुर सन्देश सुनाते हैं। इसी प्रकारका सम्वाद है, जो नेम ऋषि और इन्द्रके मध्यमें हुआ। इन्द्र कोई भौतिक देवता नहीं, वरन् साक्षात् सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् भगवान् है। हां वायु तथा वृष्टिके साथ संबन्धित विभूतियुक्त भौतिक चमत्कारको उसके देखनेका आरम्भिक द्वार समझनेमें कोई हर्ज नहीं।

(२) प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम ॥९॥

ऋ० ८।१००।३॥

अर्थः—[हे लोगो] (वाजयन्तः) बलकी कामना करते हुए [तुम] (इन्द्राय) प्रभुके प्रति (सु) अच्छी रीतिसे (सत्यं) सच्चे (स्तोमं) स्तोत्रको (प्रभरत) खूब गाओ (यदि) [वह] (सत्यं) सचमुच (अस्ति) है [तब ऐसा करना]। (इन्द्रः) प्रभु (त्वः) कोई (न) नहीं (अस्ति) है (इति) ऐसा (नेमः) नेम (उ) भी (आह) कहता है; (कः) कौन (ईं)

इसे (ददर्श) देख सका [और] (कं) किसकी (अभि-स्तवाम) अच्छे प्रकार स्तुति करें ? ॥ ६ ॥

मन्त्र क्या है, जिज्ञासुका आरम्भसे अन्त तकका वृत्तान्त है। वह विद्वान् पूरा विद्वान् मत समझो, जिसके मनमें कभी सन्देह न पड़ा हो। वेद अन्तिम परिणामकी घोषणा करता है। और वह स्पष्ट है। सर्व प्रकारका बल और ऐश्वर्य्य प्रभुसे प्राप्त हो सकता है। पर किन्हें ? जिनके हृदयमें पूरा विश्वास हो। वह विश्वास अधूरा होता है जो दूसरोंकी बातोंको सुनकर, विना अपना अनुभव प्राप्त किये कर लिया जाता है। वह जैसे उपजता है, वैसे हिल भी सकता है। परन्तु सर्व प्रकारकी संशयवृत्तिका समाधान होनेपर जिस विश्वासका उदय होता है, वह वास्तविक बलसे युक्त होता है, परन्तु समाधान तब होगा, जब पहिले तर्क, वितर्कका स्वभाव होगा। अतः वेद असली बात तक ठीक क्रमसे लानेकेलिये और भक्ति-भावको सच्चा रंग देनेकेलिये तर्क, वितर्क करनेकी स्वयं आज्ञा दे रहा है। इन्द्रके स्तोत्र गाओ, पर सच्चे स्तोत्र गाओ। हृदयका तार बजनेपर जब वाणीसे शब्द निकले, तब स्तोत्र ठीक होगा। हृदयका तार तब बजेगा, जब उसके अन्दर किसी प्रकारके संदेहकी धूली न रहेगी। तो आओ देख तो लो कहीं अन्तःकरण पर कोई गुबार तो नहीं छा रहा।

माया०—महाराज, क्या सन्देह करना कोई अच्छी बात है ?

महा०—अच्छी या बुरीका प्रश्न नहीं। प्रयोजन सच्चे अनुभवको प्राप्त करनेसे है। आरम्भिक सन्देह अल्पज्ञकी

बुद्धिकी असमर्थताका सूचक है। विचारके उपचारसे वह शनैः २ मन्द पड़ता हुआ, अनुभव-द्वारके खुलते ही सर्वथा छिन्न भिन्न हो जाता है। सर्वदा संदिग्धवृत्तिको बहुमूल्य सम्पत्तिके समान छातीसे लगाये रखना रोगकी दशाका सूचक है। इससे बचना चाहिये। वेद उस आरम्भिक संदेहकी ओर संकेत करता हुआ ही इन्द्रकी सत्यताकी परीक्षाके लिये प्रेरित करता है। स्तोत्र पीछे गाना। पहिले यह समझ तो लो कि तुम्हारा इष्टदेव सत्यस्वरूप है। कहीं अपने आपको धोखेमें मत रखना। पूछो न हृदयसे कि इन्द्र कहां है? वह दिखाई तो देता नहीं। किसने उसे देखा है? अरे, जब यह स्थिति है, तो पूजा किसकी करने चले हो?

वस्तु०—महाराज, वस्तुतः बात तो कुछ ऐसी ही है। बचपनसे पूजा करते चले आये हैं। मन्त्र और स्तोत्र कण्ठस्थ से हो रहे हैं। आपके इस कथनसे दिल कुछ हिलसा गया है।

सत्य०—यदि इतनेसे ही हिल गया है, तो यही समझना चाहिये कि पहिलेसे ही पक्का न था। ऐसी भुरभुरी श्रद्धा बहुत दूर तक साथ नहीं दे सकती।

माया०—हम तो देखते हैं कि साधारण जनताका बड़ा भाग तो ऐसी ही श्रद्धाको जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त धारण किये रहता है। उनका निर्वाह ठीक ही हो जाता है।

महा०—सत्यकामका भाव कुछ और था। श्रद्धा कहते हैं, वस्तुतत्त्वके धारण करनेको। परमसत्यको अनुभव करके, उसमें लीन होनेके लिये बिना दूसरेकी प्रेरणाके, स्वयं अन्दरसे पैदा होने वाली दृढभावनासे ही जीवन-द्वार खुलता है। इस

लिये ज्ञानके प्रदीपकी शुद्धज्योति ही का दूसरा नाम श्रद्धा समझो। इस लिये जिसे साधारण जन श्रद्धा कहते हैं, वह वास्तवमें कुछ और है। वह अन्धकारकी उपज है। उसके सहारे जिस जीवनका निर्वाह होता है, वह साधारण पाशविक जीवन है।

वस्तु०—महाराज, वास्तविक स्थिरता कब प्राप्त होती है?

महा०—जब सत्यस्वरूप इन्द्रका साक्षात् अनुभव होता है। फिर लाख डुलानेपर भी दिल नहीं डोलता। उसी अवस्थाका नाम श्रद्धा है। उसीसे सत्यकी प्राप्ति होती है। उसीसे भवसागरसे मनुष्य तर जाता है। उसीसे भय और शोककी मोहमायासे साधक अलग हो जाता है।

लोक०—प्राप्त कैसे हो?

महा०—तीव्र इच्छा से।

उप०—केवल इच्छा करनेसे ही सिद्धि हो जावेगी?

महा०—यह भाव नहीं है। ऋषियोंने अनेक मार्गोंका अवलम्बन किया और सिद्धिको प्राप्त किया। किसीकी रुचि इन्द्रियसंयममें थी, तो कोई कृच्छ्र तपश्चर्याको अच्छा समझता था। कोई नियमबद्ध जीवनके द्वारा सिद्धिको प्राप्त हुआ, तो किसीने ज्ञानकी प्राप्तिको महत्त्व दिया। मार्ग भिन्न २ होते हुए भी, प्रत्येक साधकके अन्दर तीव्र भावनाका होना अत्यावश्यक है। इस लिये इसे ही परम कारण समझो। इस मार्गके यात्रीको घबराना न चाहिये। यह बहुत लंबा और कठिन है। अनेक स्थानोंपर यह चक्र काटता है। पथिक वहींका वहीं प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः वह आगे बढ़ रहा होता है।

सत्य०—यात्राका अन्त कब समझना चाहिये ?

महा० जब सूर्य उदय होता है, तो छिपा नहीं रहता। जब भक्तकी भावना असली श्रद्धाकी चमक तक जा पहुंचती है, तो अनुभवका भानु उदय होरहा होता है। उसे चारों ओर भगवान्में प्रतिष्ठित होती हुई आन्तरिक प्रवृत्तिकी प्रतीति होती है। अब उसे युक्तिकी अपेक्षा नहीं रहती। तर्क, वितर्क बहुत पीछे छूट जाते हैं। वेदने जहां पहले पड़ावका वर्णन करके, पथिकको इस यात्रापर डाल दिया है, वहां अन्तिम सीमापर उसे पहुंचा कर मध्यवर्ती पड़ावोंकी ओर भी इशारा कर दिया है। विना इन पड़ावोंको पार किये केवल तर्क, वितर्कसे अन्तिम गतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी परम भक्तिकी अवस्थाका चित्र अगले दो मन्त्रोंमें रखा गया है। भक्तकी संदेहवृत्ति जड़से उखड़ चुकी है। अब उसके हृदयमें साक्षात्कारकी तार बज रही है। वाणीसे उसीकी प्रतिध्वनि प्रकट होती है। उसके प्रकाशके लिये स्वयं भगवान्, मानो, संकेत करते हैं।

(३) अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना। ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥१०॥

ऋक्० ८। १००। ४॥

अर्थ—हे (जरितः) स्तुति करने वाले, (अयं) यह (अस्मि) [मैं] हूं, (इह) यहां (मा) मुझे (पश्य) देख। (मह्ना) महिमा द्वारा (विश्वा) सकल (जातानि) उत्पन्न हुए २ [पदार्थों] को (अभि-अस्मि) वशमें रखता हूं। (ऋतस्य)

ऋतके (प्र-दिशः) इशारे (मा) मुझे (वर्धयन्ति) बढ़ाते हैं; (आ-दर्दिरः) निरन्तर चीरने वाला [मैं] (भुवना) लोकोंको (दर्दरीमि) सदा चीरता हूं ॥ १० ॥

अब भक्त किसी अन्यसे नहीं पूछता कि ईश्वर कहां है । अब तो वह सर्वत्र भगवान्की सत्ताको अनुभव करता है । प्रत्येक पदार्थ उसीके शासनमें रह कर अपनी मर्यादानुसार कार्य करता हुआ प्रतीत होता है । वह जिधर देखता है, उधर ही उसे विचित्र नियमोंका भान होता है । बड़े क्या और छोटे क्या, सभी पदार्थ सच्चाईका प्रकाश करते हुए, उस सत्यके परम आधार, जगदीश्वरका प्रकाश करते हैं । अब वह संदेह नहीं करता कि किसने उसे देखा है, और किसकी स्तुति करनी चाहिये । भगवान्ने उसे दिव्य चक्षु प्रदान कर दिया है । अब वह उसके विराट्स्वरूपको भली भान्ति प्रत्यक्ष करता है । अब उसके सामने लोकोंका निर्माण और विनाश होरहा है । परमाणुओंका संघर्ष होता है । पुराने पदार्थ फटते हैं । नये जोड़ जुड़ जाते हैं । फाड़ने वाला भी वह आप है और जोड़ने वाला भी वह आप है । ऐसा अब भगवान्का भक्त निरन्तर समझता है । न केवल विराट् स्वरूपको अपने अन्दर धारण किये हुए, वरन् सूक्ष्मसे सूक्ष्म भावसे पदार्थोंको चीरकर उनके अन्दर बसे हुए देवके वह दर्शन करके निहाल हो जाता है ।

(४) आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे । मनश्चिन्मे हृद आप्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ।। ११ ।।

ऋक० ८ । १०० । ५ ॥

अर्थ—(यत्) जब (वेनाः) साक्षात् अनुभवी विद्वान् (हर्यतस्य) सुन्दर (ऋतस्य) सत्यकी (पृष्ठे) पीठपर (आसीनं) बैठे हुए (मा) मुझ (एकं) एक तक (आरुहन्) चढ़ आते हैं; (चित्) तब (मनः) अन्तःकरण (मे) मेरे (हृदे) हृदयके साथ (आ-प्रति-आवोचत्) सीधी बात करता है; (सखायः) मित्र (शिशुमन्तः) बालकपनसे युक्त होते हुए (अचिक्रदन्) खूब पुकारते हैं ॥ ११ ॥

ब्रह्माण्डमें 'ऋत' अर्थात्, चित्र, विचित्र रचनाके अन्तर्गत नियम तथा क्रम सर्वत्र पाया जाता है। विज्ञानकी उन्नतिके साथ २ 'ऋत'के भानका भी विकास होता जाता है। प्रति दिन इसकी सुन्दरता और मनोहरताके नये २ प्रमाण मिल रहे हैं। कुच्छ कालके लिये विद्याके मद्से या विज्ञानके चमत्कारसे जो दिल हिल रहे थे, वे अब सच्ची श्रद्धासे पूर्ण हो रहे हैं। अब विज्ञान तथा अनुभवके नेत्रोंसे सुभूषित विद्वान् इन सब असंख्य नियमोंको एक सूत्रमें पिरोने वाले, इस सुन्दर उद्यानके महामहिम मालीसे अपने संबन्ध जोड़ रहे हैं। यह प्राचीन भारतके योगयुक्त महात्माओंकी महिमा है कि उन्होंने आरंभसे ही अनुभवके द्वारको खोलनेके लिये इतना पुरुषार्थ किया। यह और भी उनकी बड़ाईकी बात है कि उन्होंने अपने अन्तःकरणके बलसे जहां जगत्की सच्चाइयोंको अनुभव किया, वहां उनके पीछे विद्यमान् रहकर, उनका संचालन करने वाले भगवान्का भी प्रत्यक्ष किया। वेद्के शब्दोंमें, ऐसे भक्तोंका हृदय प्रभुके हृदयसे एक होकर, सच्चे मित्रोंके समान मिल जाता है। दुई दूर हो जाती है

और भेद मिट जाता है । दुई और भेद कमसमझी या बेसमझीके फल थे । जब तीव्रभावनासे प्रेरित होकर, पूर्ण पुरुषार्थसे युक्त होकर, भगवान्के चरणोंमें सच्चे मित्र आ पहुंचते हैं, तो बालकोंके समान सरलभावको धारण करके, वार २ अपने मित्रको बुला २ कर अपनी तसल्ली करते हैं कि हम वस्तुतः ठिकानेपर आ पहुंचे हैं। छोटासा बालक बड़े नगरमें खोया जाता है । कई दिन तक घूम २ कर, थक टूटकर, जब वह बेचारा पुनः घरके द्वारको पा लेता है, तो फूट २ कर रोता हुआ दिलके दुःखको और 'मातः' २ कहकर प्राप्त होने वाले, निश्चिन्तताके भावका परिचय कराता है । यही अवस्था सच्चे भक्तोंकी समझनी चाहिये । न जाने, कितना काल बीता, हम अपने परम पितासे एक प्रकारसे जुदा होकर, इस विशाल, विचित्र, भूल भुलयियोंमें चक्र काट रहे हैं ! क्या जाने वह शुभ समय कब आवेगा, जब हमभी उस नन्हे बालकके समान फिर अपने पिताकी गोदमें रमण कर सकेंगे ? क्या स्वाभाविक वर्णन है ! क्या गम्भीर रस-प्रवाह बहा दिया गया है ! पुनः २ इसी चित्रको अपने मनके सामने लाकर आनन्द लाभ करनेको जी चाहता है । सज्जनो, इसी क्रमबद्ध विकासको प्राप्त होनेसे ही वस्तुतः अनुभव होता है कि किस प्रकार इस विचित्र रचनाका रचने वाला देव, चेतन, शुद्धस्वरूप, जगदीश्वर यह सारा खेल खेल रहा है ।

लोक०—महाराज, यदि अनुभवके प्रकाशसे सम्पूर्ण रचना-क्रमका ज्ञान हो सकता है, तो इतने बड़े २ कला-भवनों और वैज्ञानिक यन्त्रोंद्वारा प्राकृतिक अनुसंधान करनेकी

आवश्यकता ही क्या है? झट समाधि लगा ली और झट सब भेद खुल गया। व्यर्थ इधर उधर भटकनेमें फिर क्या धरा है?

महा०—यह आपका भ्रम प्रतीत होता है। जो अज्ञानी है, उसकी श्रद्धाका हाल सुन ही चुके हो। ज्ञानवान्की श्रद्धा ही असली श्रद्धा होती है। इस लिये विद्याके अधिक प्रचारसे तथा विस्तृत, सूक्ष्म अनुसंधानसे जो प्रकाश पैदा हो, उसके अन्दर जो भक्तिकी ओर प्रवृत्त होगा, वही सच्ची समाधिसे लाभ उठावेगा। समाधिका आरम्भ तो बहुत शीघ्र हो जाता है। परन्तु देखना यह होता है कि उसमें साधक कितना आगे बढ़ता है? अल्पज्ञ साधक साधारण लाभसे ही सन्तुष्ट होकर उसीमें खञ्चित हो सकता है। यही कारण है कि एक दो बातोंकी शक्ति पैदा करके, नाटकी लोग योगको तमाशा और-पूर्त्तिका साधन बनाये फिरते हैं। इस लिये विज्ञानका विकास अनुभवके विकासके लिये कम आवश्यक नहीं। दूसरे, अपनी २ प्रवृत्तिपर भी बहुत कुछ निर्भर है। अपनी २ रुचिके अनुसार विकासको प्राप्त करना स्वाभाविक है। यदि बाधासे मार्गको कोई साधक बदल भी ले, तो उसे पूरी सफलता नहीं हो सकती। इस लिये योग्य शिक्षक अपने शिष्योंकी नैसर्गिक प्रवृत्तिका विचार करके ही उन्हें भिन्न २ मार्गोंका उपदेश करते हैं। इस लिये यह मत समझो कि प्रत्येक व्यक्ति झट समाधि लगाकर सर्वज्ञ बन सकता है। यह श्रद्धापूर्वक, निरन्तर, चिरकाल तक पुरुषार्थ करनेका ही पुण्योदय होता है। हां, इसमें संदेह नहीं कि ऐसा हो जानेपर, उस सिद्ध, महात्माको विना किसी बाह्य यन्त्रादिकी सहायताके, नाना प्रकारके रहस्योंका ज्ञान हो

सकता है, पर यह आवश्यक नहीं, कि उसकी उनके जाननेमें प्रवृत्ति हो ।

सत्य०—महाराज, क्या वेदमें इस प्रकारसे प्राप्त हो सकनेवाले, विश्व-ज्ञानकी ओर भी कुछ संकेत किया गया है ।

महा०—हां, अवश्य है। इसी प्रकारके विश्व-ज्ञानसे ही साधकके अन्तस्तलपर उस परम शासककी अपार शक्तिका प्रतिबिम्बसा पड़ता है। वह देखता है कि प्रत्येक पदार्थ भगवान्के बांधे हुए नियमोंके अनुसार चलता है। इसी नियमका यह फल है कि सामष्टिक कल्याणके नित्य नये साधन उपस्थित होते रहते हैं। उसे अपने ऊपर विचार करके, अपना चित्र छोटा होता हुआ प्रतीत होता है। पाप और दुर्व्यसनोंके कारण वह अपने आपको विश्वके महायन्त्रमें अखरता हुआ पाता है। कला घूमती है। चित्तकी शुद्धि हो जाती है। जीवन बदल जाता है। पापोंका दमन हो जाता है। साधक सिद्धिके विशाल पथपर पड़ जाता है। आओ, आज शेष समयमें इसी भावसे भावित 'अघमर्षण' सूक्तका थोड़ासा विचार करें। 'अघ' का अर्थ पाप होता है और मर्षणका भाव है दबाना या कुचलना। यह सूक्त विश्व-ज्ञानकी दृढ़ नींवपर भक्तिके विशाल भवनकी रचना करता हुआ, दुर्भावरूपी गन्दी सामग्रीको बाहिर धकेल देता है। 'नासदीय' सूक्त कुतूहलजनक था। संकेतोंसे मर्म समझाता था। आजके इस सूक्तमें वैज्ञानिक वर्णन द्वारा प्रभाव पैदा करनेका विचार पाया जाता है। भाव वही है,

प्रभुके द्वार तक पहुंचा देना । कहनेके प्रकारमें तथा विचारके दृष्टि-कोणमें अन्तर है ।

सत्य०—महाराज, यदि विषयकी समानता है, तो देवता भी एक ही होना चाहिये ।

महा०—ऐसा ही होगा । उस सूक्तका देवता क्या था ?

सत्य०—भाववृत्त ।

महा०—और, यहां भी वही है । इस सूक्तका ऋषि अघमर्षण है । यह हो सकता है कि भगवद्भक्तिसे, प्रभुकी महिमाके गानसे उसका जीवन पापरहित हो गया हो और उसका यही नाम प्रसिद्ध हो गया हो । पीछे आने वाले ऋषियोंने भी इस सूक्तके मननमें इस अद्भुत शक्तिके होनेमें साक्षी दी है । इसी सद्भावसे प्रेरित होकर, उन्होंने सदासे इसे नित्य पूजामें स्थान दे रखा है । आप प्रतिदिन इन मन्त्रोंको सन्ध्यामें पढ़ते हो ।

(५) ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१२॥ ऋक् १०।१९०।१ ॥

अर्थः—(ऋतं) ऋत (च) और (सत्यं) सत्य (अभि-इद्धात्) प्रचण्ड, प्रकाशमान (तपसः) तपसे (अधि-अजायत) उत्तर प्रकट हुए; (ततः) उससे (रात्री) रात्रि (अजायत) हुई [और] (ततः) उससे (अर्णवः) गतिसे युक्त (समुद्रः) समुद्र [हुआ] ॥ १२ ॥

' नासदीय ' सूक्तके अन्तमें प्रभुके ज्ञानमयतपकी महिमा गायी गयी थी । जब विधाता अपनी बांधी हुई, अनादि

मर्यादाके अनुसार सृष्टि रचने या संहार करनेका संकल्प करता है, तो क्रमसे अव्यक्तसे व्यक्त और व्यक्तसे अव्यक्तकी ओर गति होने लग जाती है। प्रभुका ज्ञान पूर्ण प्रकाशसे युक्त है। अतः उसके बांधे हुए नियमोंमें कभी त्रुटि नहीं होती। उसके ज्ञानका ही यह पुण्य-प्रताप है कि इस प्रपञ्चमें यह सुन्दरता, उपयोगिता और सुक्रमता पायी जाती है। प्राकृतिक नियमोंका जहां निरन्तर चक्र चलता है, वहां आध्यात्मिक नियमोंके आधारपर सत्य और न्यायकी विजय और दम्भ तथा कपटकी पराजय होती है। जैसे अल्पज्ञताके कारण अपने घरके गिर जानेके कारण, आंधी या मेंहके विश्वव्यापक उपयोगी स्वरूपको मनुष्य भूल जाता है, वैसे ही पापको फूलते फलते देखकर भी वह कभी २ घबरा उठता है। परन्तु तत्त्ववेत्ता अनुभवी, सज्जन जानते हैं कि वह क्षणिक, आभासिक सफलताका भवन बालूके ढेरपर खड़ा है। न केवल यही, वरन् वे ऐसा भी अपने मनन द्वारा समझते हैं कि पापी भी यदि वृद्धिको प्राप्त होता है, तो अपने अन्दर पापको छोड़कर दूसरे विद्यमान सद्गुणोंके प्रभावसे ही होता है। प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक जगत्की इस सत्य-प्रतिष्ठाको प्रकट करनेके लिये वेदमें 'ऋत' और 'सत्य' शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

सत्य०—महाराज, ये शब्द समान अर्थ वाले हैं या इनका अभिप्राय भिन्न २ है।

महा०—साधारण प्रयोगमें तो इनके अर्थकी समानता ही प्रतीत होती है, परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे विचार करें, तो कुछ भेद मानना पड़ता है। 'ऋत'का अर्थ है गति और 'गति' से

आचार्य साधारण गमनके साथ ज्ञान और प्राप्तिका भाव भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकारसे 'ऋत'से वे सच्चे नियम संकेतित होते हैं, जिनके आधारपर यह सारा प्रपञ्च अखण्ड क्रममें बंधा हुआ चलता है और जिनके समझनेसे ज्ञान तथा सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। इसी आशयसे भौतिक मर्यादाका वाचक होता हुआ भी यह शब्द यज्ञादि सुकर्मोंका अर्थ देता है। 'सत्य' का सम्बन्ध सत्ताकी सार्थकतासे है। इससे उन नियमोंका ग्रहण करना है, जिनके आधारपर सारी सत्ताकी साधुता और श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भौतिक जगत्में सुन्दरता और उपयोगिता और चेतन जगत्में स्वच्छ विचार द्वारा विकास 'सत्य' के ही मीठे फल हैं। प्रभुने अपने विशाल ज्ञानसे जगत्में सूखी मर्यादाके अन्दर रसीलापन भी भर रखा है। हम स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके साथ २ मिठासको जुड़ा हुआ पाते हैं। मिथ्या प्रवृत्तियोंमें भले ही दिल ललचानेको क्षणिक रस मिल जाता हो, पर वह शीघ्र ही विषके कड़ुवे घूण्टोंमें बदलकर सन्तापका कारण बन जाता है। विवेकी पुरुष इसी नियमके आधारपर प्रायः सत्य तथा मिथ्यामें विवेक करके, सत्यके पक्षपाती होजाते हैं। इस प्रकार इस मन्त्रके पूर्वार्धमें दो मूल बातोंका उपदेश पाया जाता है। अर्थात् प्रभुका अनन्त ज्ञान और उसका फल स्वरूप 'ऋत' और 'सत्य'का भाव, जो उस विधाताके इस विधानमें कारणावस्थामें तथा कार्यावस्थामें बराबर पाया जाता है।

वस्तु०—महाराज, अन्तिम वाक्यको तनिक खोल दीजिए।

महा०—इस बातका विस्तार तो गत सप्ताह होता रहा था । संसार सदा उस वर्तमान व्यक्त अवस्थामें नहीं रहता । अव्यक्तसे ही आरम्भ होता है और अव्यक्तमें ही लीन होजाता है । परन्तु चाहे सर्ग हो और चाहे हो प्रलय, दोनोंकी प्रतिष्ठा 'ऋत' और 'सत्य' के दृढ़ आधारपर समझनी चाहिये । इस प्रकार मूल आधारका संकेत करके, सर्ग-क्रमका वर्णन करनेसे पूर्व, उसके पूर्वकी अवस्थाका चित्र वेद हमारे सामने रखता है । याद रखो यह अवस्था प्रलयकी अवस्थासे भिन्न नहीं है ।

शून्य०—यह कैसे, भगवन् ?

महा०—जैसे समुद्रके बीचमें टापू होता है, ऐसे ही अव्यक्त-सागरमें इस व्यक्त संसारकी दशा है । चारों ओरसे यह अव्यक्तसे घिरा हुआ है ।

वस्तु०—क्या सारा अव्यक्त संसारके रूपमें परिणत नहीं होता ?

महा०—इसका निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है । वेदका साधारण तात्पर्य लेकर तो यही कहा जा सकता है कि अव्यक्तका एक भाग ही व्यक्त होता है । इसका अपने अवसरपर फिर संकेत किया जावेगा । यहांपर यदि यह भी मान लिया जावे कि सकल 'अव्यक्त' व्यक्त होजाता है, तो भी यही कहेंगे कि जो अव्यक्त व्यक्तके आदिमें अर्थात् सर्गसे पूर्व था, वही इसके संहारके पीछे होगा ।

लोक०—किस तरह, महाराज ?

महा०—पानी और भापका उदाहरण ले लो । पानी आदिमें होता है । गरमी बढ़नेपर भाप बन जाती है । फिर

गरमी कम होनेपर पानी हो जाता है । इसी प्रकार मूल प्रकृति गरमी आदि निमित्तोंके द्वारा कार्यावस्थाको प्राप्त होकर, निश्चित कालके लिये इसी अवस्थामें रहकर, दूसरे प्रकारके निमित्तोंके प्रभावसे पुनः मूल कारणावस्थाको लौट जाती है। यह चक्र बड़े नियमसे चलता है । मन्त्रके उत्तरार्धमें इस अवस्थाको रात्रिके शब्दसे वर्णन किया है ।

सत्य० – महाराज, इसमें भी कोई रहस्य होगा ।

महा०—सज्जनों, दिनके समय हम अपनी इन्द्रियोंकी वृत्तियों द्वारा बाहिरके जगत्के साथ दूर २ तक अपना सम्बन्ध जोड़कर रहते हैं । यह एक प्रकारसे हमारी विस्तारकी अवस्था कही जा सकती है । रात्रिको यह सब वृत्तियां वापिस बुलाकर नींद्के आवरणके नीचे छिप जाती हैं । एक प्रकारसे हमारा भी संकोच होजाता है । कमसे कम दूसरोंके प्रति हमारे व्यवहारका स्वरूप 'अव्यक्त' होजाता है । ठीक इसी प्रकार, प्रकृति भी अव्यक्त दशामें अपने अन्दर सारे व्यवहारका बीज तो रखती है, पर कोई चेतन द्रष्टा उससे उस अवस्थामें परिचय नहीं प्राप्त कर सकता । यह उसकी रात्रिकी दशा है । वेद भगवान् निश्चय दिलाता है कि जिस प्रकार दिन और रातका चक्र निश्चित वेगसे घूमता है, उसी प्रकार सारे जगत्की महारात्रि और महादिनका पर्याय भी निश्चित क्रमसे बदलता है । इन्हें ही ब्रह्मरात्रि तथा ब्रह्मदिन भी कहते हैं। जिस 'ऋत' और 'सत्य' के भावसे ब्रह्मरात्रिकी परिणति होती है, वही ब्रह्मदिनका भी मूलाधार है । अव्यक्त और व्यक्तमें मुख्य भेद क्या है ? 'अव्यक्त' में प्रजा सोती है, निश्चल और निश्चेष्ट हो जाती है । 'व्यक्त' में

परमाणुसे लेकर पर्वत पर्यन्त सभी पदार्थ जागते हैं, गतिसे युक्त होजाते हैं। 'अव्यक्त' अनन्त सागर है, जिसके शान्त तल पर न बुलबुला ही उठता है और न लहरका नाम पाया जाता है। जब 'व्यक्त' का कांटा बदलता है, तो उस अनन्त सागरमें हलचल मच जाती है। मन्थन सा होने लगता है। 'समुद्र' तो वही है, पर अब वह 'अर्णव' अर्थात् व्यापक गतिसे युक्त होगया है। लहरपर लहर उठती है और टक्करपर टक्कर लगती है। इस मन्त्र द्वारा व्यक्तके मौलिक स्वरूपका परिचय कराकर, दूसरे मन्त्रमें वेद उससे आगेके विस्तारका संकेत करता है।*

(६) समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ १३ ॥ ऋ० । १० । १९० । २ ॥

अर्थः—(अर्णवात्) गतियुक्त (समुद्रात्) सागरसे (अधि) उत्तर (संवत्सरः) संवत्सर (अजायत) प्रकट हुआ। (विश्वस्य सारे (मिषतः) हिलते हुए [प्रपंच] के (वशी) शासकने (अहोरात्राणि) दिन, रात (वि–दधत्) बनाते हुए ॥ १३ ॥

---

* सायणाचार्य्यने 'रात्री' से साधारण रात्रि और 'अर्णवः' से 'जलयुक्त' का भाव लिया है। सूर्यकी रचनाका सकेत आगे आवेगा। इस रात्रिका भी वही अवसर होगा। यह जलका समुद्र पृथिवीसे पृथक् नहीं है। उसका वर्णन बहुत आगे आता है। प्रतीत होता है भाष्यकारके मनमें सर्गक्रमका निश्चयात्मक प्रतिबिम्ब विद्यमान न था। 'भाववृत्त' जब देवता है, तो 'भाव' का असम्बद्ध वर्णन न लेकर, क्रमबद्ध, नित्य इतिहासका स्वरूप ही समझनेका यत्न करना चाहिये। इस रीतिपर इस सूक्तपर विचार आरम्भ करनेका श्रेय आचार्य दयानन्द को है।

(७) सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ १४ ॥ ऋ० १०।१९०।३ ॥

अर्थः—(धाता) धारण करने वालेने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चांदको (यथा पूर्वं) पूर्वकी भान्ति [और इसी प्रकार] (दिवं) द्युलोकको (पृथिवीं) पृथिवीको (अन्तरिक्षं) मध्यवर्ती लोकको (अथ-उ) तथा (स्वः) अन्य सुगति तथा सुखसे युक्त अनन्त लोक, लोकान्तरोंको (अकल्पयत्) कल्पित किया ॥ १४ ॥

'व्यक्त' होने वाले प्रपञ्चके मूलमें गति है, पर जब तक उस गतिका परिणाम 'संघात'के रूपमें न निकले, तब तक 'अभिव्यक्ति' असंभव है। सर्गके आदिमें अव्याहत मन्थनसे पदार्थोंका परस्पर विवेक होता है। आकर्षण और अपाकर्षणका व्यवहार चलने लगता है। गरमी और सरदीके पर्याय बदलने लगते हैं। छोटे २ अवयव मिलकर बड़े २ अवयवी प्रकट होते हैं। मिलकर, इकट्ठा रहनेका युग आरंभ होता है। उस अवस्थाका ही वाचक 'संवत्सर' शब्द समझना उचित है। परमाणु गतियुक्त थे और परस्पर मिलने लगे थे। परन्तु वेद पुनः याद दिलाता है, कि यह सारा कार्य भी विधाताके नियमके अनुसार ही हो रहा था। यह सर्ग-क्रम प्रथमवार नहीं हुआ था। यह चक्र अनादि कालसे चला आया था और अनन्त काल तक चला जावेगा। इस लिये उस परम शासकके ज्ञान तथा उसकी प्रेरणासे ही, जैसे इस सर्गसे पूर्व असंख्यवार निर्माण हुआ था, वैसे ही इस वार भी हुआ।

परमाणुओंके संघातसे स्थूल पदार्थोंका प्रकाश हुआ। सूर्य और चांदके प्रकाशसे दिन और रातके व्यवहार चले। द्युलोक, पृथिवीलोक और इनके मध्यका विशाल अंतरिक्षलोक अपने २ क्रमसे विकिसित हुए। परन्तु स्मरण रखो, ये तीनों लोकोंकी कल्पना हम अपनी पृथिवीकी अपेक्षा ही करते हैं। इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि ब्रह्माण्ड इतना ही है, जितना हमने अपनी अल्पज्ञतासे कल्पना कर लिया। वेद अन्तमें ' स्वः ' के शब्दसे यह संकेत करता हुआ अन्तमें हमारे मानसिक चित्रको अनन्ततामें लीन कर देता है। हमें वस्तुतः पता नहीं लग सकता कि इस जगत्का कितना विस्तार है ? पर, हां आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक अनुभवसे यह विश्वास अवश्य है कि जितना भी यह प्रपञ्च है, उसमें सुगति और सुख पाया जाता है। जो भाग दिखाई देता है, जिससे हम किसी न किसी प्रकार परिचित हैं, उसमें भी और जिसका हमें कुछ पता नहीं, उसमें भी ' व्यक्त ' अवस्थामें सुख और सुगति मौजूद हैं। वास्तवमें सुगति सुखका कारण है।

सत्य०—क्या जगत्में सर्वत्र सुख ही सुख है ? हमें तो दुःखकी अधिकता दिखाई देती है। बड़े २ महात्माओंने इसी भावसे प्रभावित होकर संसारसे नाता तोड़ दिया।

महा०--आपका कहना ठीक है। मनुष्यके दृष्टिकोणसे देखें, तो जगत्में घोर संग्राम, अत्याचार, अनर्थ, रोग, शोक और संतापका ही तांता लगा हुआ है। परन्तु विधाताके विधानका इसमें अपराध नहीं। मनुष्यकी अल्पज्ञताका ही यह दुष्परिणाम है। यदि हम किसी प्रकारसे सारे आध्यात्मिक

और भौतिक नियमोंको समझकर, उनके अनुसार व्यवहार कर पावें, तो दुःखका नाम भी न रहे। रचनामें दुःख नहीं। उसके संसर्गमें आनेवाले प्राणीको अपनी परिस्थितिके अनुसार सुख और दुःखकी प्रतीति होती है। आग जलती है। प्रकाश और जीवनका चमत्कार है। अनेक प्रकारके सुखका कारण है, पर बालक हाथ आगे करके चीखने लग जाता है। यह दुःख है। पर कहां? बालकके हृदयमें। आगके साथ उसका कोई संबंध नहीं।

सत्य०—यदि ऐसा है, तो सुखका भी उससे कोई सम्बन्ध नहीं।

महा०—जहां तक जड़ जगत्का प्रकरण है, सुखभी उसमें नहीं है। हां, वह सुखका साधन होसकता है। विधाताका विधान सबके कल्याणके लिये ही होना चाहिये। इस लिये यह कहा गया है कि प्रभुने तो जगत्को सुखका हेतु ही बनाया है, पर होता यह दुःखका हेतु भी है। इसमें कारण हमारी भूल है। उसे दूर करनेके लिये ही यह यात्रा हो रही है। प्रत्येक चेतन तत्त्वके इतिहासमें वह शुभ क्षण अवश्य आवेगा, जब वह सब त्रुटियोंसे मुक्त होकर, शुद्ध स्वरूपको धारण करेगा। जब तक हम इस यात्रापर चले हुए हैं, हमें जानते हुए दुःखका स्वागत तो न करना चाहिये। पर, हां यदि हमारे पूर्व अज्ञानके फलके रूपमें हमें भुगतना पड़े, तो हमें घबराना भी न चाहिये। उस भट्टीमें तपकर ही आत्म-सुवर्ण कुन्दनकी शोभाको धारण करेगा।

वस्तु०—और, यह जो आपने संकेत किया था कि

पूर्वकी भान्ति सृष्टिको रचा गया, इसमें कई प्रकारका संदेह होता है। ईसाई और मुसलमान लोग तो शायद ऐसा नहीं मानते।

महा०—उनकी पुस्तकोंमें इस सर्गका वर्णन पाया जाता है। यह कहीं नहीं कहा गया कि यह प्रथम सृष्टि है। उनका भाव भगवान्की महिमा बतानेमें है। भगवान्ने इच्छाकी और यह जगत् प्रकट हो गया। इसका यह अर्थ नहीं कि उसने इससे पूर्व भी इच्छा नहीं की थी और जगत्का प्रकाश नहीं हुआ। पर वेद तो स्पष्ट संकेत करता है। और है भी ऐसा ही युक्तियुक्त। चाहे केवल प्रभुकी इच्छा कारण हो और चाहे साथ प्रकृतिको उपादान माना जावे। कारणकी नित्य सत्ताका यह स्वाभाविक परिणाम होना चाहिये कि कार्यका प्रादुर्भाव हो। भावका अत्यन्त अभाव और अत्यन्त अभावका भाव होना असंभव है। अतः किसी न किसी रूपमें यह जगत् पूर्व भी विद्यमान था और आगे भी रहेगा।

सत्य०—पहिले 'अव्यक्त' ही चला आता था।

महा०—और, अब व्यक्त क्यों हो गया?

सत्य०—प्रभुकी ऐसी ही इच्छा हुई।

महा०—नहीं, प्यारे, यह युक्ति ठीक नहीं है। जब अन्य प्रमाणोंसे यह निश्चित हो जावे कि पहिले सृष्टि नहीं हुई थी, तभी यह कल्पना हो सकेगी कि प्रभुकी ऐसी ही इच्छा थी। प्रत्येक पदार्थमें तिरोभाव और प्रादुर्भावके पाये जानेसे, समष्टिमें भी इन दोनों बातोंको मानकर हम कह सकते हैं कि विधाताका विधान दो अवस्थाओंमें बदलता रहता है। कभी

प्रकट हो जाता है और कभी संहार हो जाता है। इस परिवर्तनका क्रम नियमबद्ध है। इसीके आधारपर विधाताको मानना पड़ता है। बाहिरकी युक्तियोंमें यही प्रधान युक्ति है। यदि इसी बातको उड़ा दिया जावे, तो विधाताका विचार भी कभी न आवे। विधाता अनादि है, अतः उसकी इच्छा आदि शक्तियां भी सदासे हैं। उसकी इच्छा आदिका परिणाम यह विधान भी सदासे है। न कोई नयी सृष्टि है और न कोई अन्तिम प्रलय ही है। यह तो चक्र है। इसमें आदि और अन्तकी तलाश व्यर्थ है। भला, तुम्हीं बताओ, इस सर्गके आरंभका भी हमें क्या पता है? क्या निश्चयसे कह सकते हैं कि पहिले रात थी या दिन? वस्तुतः न रात पहिले थी और न दिन। पहिलेका शब्द ही प्रयुक्त नहीं हो सकता। बस, तो ईश्वरवादियोंको ईश्वरकी नित्य सत्ताके कारण और अनीश्वर-वादियोंको अभाव से भावकी उत्पत्तिके असंभव होनेके कारण यह जगत् सदासे चला आता हुआ ही मानना पड़ता है। शेष रही बात, सर्ग और प्रलयके स्वरूपकी। उसमें भेद हो सकता है। उस अवस्थाका साक्षात्कार तो किसीको हो नहीं सका, क्योंकि 'नासदीय' सूक्तके शब्दोंमें 'देवता भी उसके पीछे प्रकट हुए'। यह वेदकी अनुपम महिमा है कि इसमें इतने सूक्ष्म और गहन विषयपर भी इतना प्रकाश डाला गया है। रेखारूपसे सारा वर्णन नयेसे नये वैज्ञानिक अन्वेषणोंके साथ चलता है। जिस निर्भीकता और उदारतासे अगम्य बातोंकी ओर इशारा किया गया है, वह प्रशंसनीय है। मनुष्यके इस आदिम साहित्यमें ऐसा परम दार्शनिक और वैज्ञानिक चमत्कार

विना प्रभु-प्रसाद और साक्षात् अनुभवके असंभव है। यही कारण है कि आयावर्त्तमें आरम्भसे वेदके प्रति न केवल जनताकी, वरन् परम विद्वानोंकी भी अनन्यसाधारण श्रद्धा और भक्तिका भाव चला आता है।

दशम खण्ड ।

प्रपञ्चकी प्रतिष्ठा ।

सत्य०—महाराज, आज कौनसा प्रकरण चलेगा ?

महा०—सज्जनो, आज अथर्ववेदके दसवें काण्डके सातवें सूक्तकी चर्चा होगी । यह स्कम्भ-सूक्तके नामसे प्रसिद्ध है। स्कम्भका अर्थ है खम्भा अर्थात् आधार। जो कुछ इस विशाल, निःसीम ब्रह्माण्डमें पाया जाता है, उस सबकी प्रतिष्ठा उस परमेश्वरमें समझनी चाहिये । इसी हेतुसे उसका स्कम्भके नामसे वर्णन किया गया है।

लोक०—महाराज, साधारण लोगोंमें ऐसा विश्वास पाया जाता है कि इस लोकको शेष नाग अपने सहस्र फणोंके ऊपर संभाले हुए है। इसका क्या तात्पर्य है ?

महा०—कविता जहां रस और चमत्कारके कारण प्यारी लगती है, वहां आलङ्कारिक कल्पनाओंके कारण उससे कई प्रकारके मिथ्या विश्वास भी चल पड़ते हैं। कवि लोग साधारण पदार्थोंका असाधारण भाषा और भावसे रंगा हुआ वर्णन करके प्रसन्न हुआ करते हैं। जो पदार्थ जैसा है, उसका स्वरूप

चित्रित करनेके लिये उसके समान स्वरूप वाले पदार्थकी उपमाको बीचमें अवश्य ले आते हैं। सच पूछो, तो उपमा काव्यरचनाकी जान है। उपमाके भावको और आगे बढ़ाकर रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति आदि अनेक प्रकारके आलङ्कारिक भेदोंका प्रयोग किया जाता है। उपराम जी, साहित्यसे अपरिचयके कारण कुछ कठिनता तो प्रतीत नहीं हो रही ?

उप०—कुछ है तो सही।

महा०—अच्छा, तो एक साधारण उदाहरणसे स्पष्ट करता हूं। सुन्दर, चांद सा मुखड़ा, यहांसे उपमा चलती है। 'मुखरूपी चन्द्रमा मुस्क्यानकी प्रभासे पूर्णिमाके विकासको प्राप्त हो रहा था'। इस वाक्यमें समानताके भावको मन ही मनमें निश्चित करके, उपमेय मुखादि पदार्थोंको उपमान चन्द्रादिके रूपमें कह दिया गया है। कवि इससे और आगे चल कर उपमेयको उपमानमें सर्वथा लीनसा करके, रूपकको भी बोझ समझता है। मुखादिका वर्णन न करके, चन्द्रादिका ही कथन करता है। प्रकरणादिसे समझने वाले मुखादिका ही ग्रहण करते हैं। जितना अधिक इस कलाकी विशेषता बढ़ती है, विज्ञ श्रोताओं और पाठकोंको उतनाही अधिक आनन्द अनुभव होता है।

लोक०—महाराज, मैंने एक प्रश्न किया था।

वस्तु०—वाह २ उधर ही तो महाराज आ रहे हैं।

महा०—प्यारो, ठीक इसी प्रकार तार्किकोंके रूखे, सूखे, मापे तुले हुए शब्दोंको भाव और अलंकारका सुहावना पहरावा

देकर, जगत्की रचनाको एक सुन्दर, रोचक कथा बना लिया गया है। वेद्ने भी साधारण आधार या प्रतिष्ठाके स्थानपर 'सकम्भ' शब्दका प्रयोग किया है। स्तम्भका चित्र सामने आते ही, उस पर खड़े विशाल भवनका चित्र भी साथ ही उपस्थित हो जाता है। ईश्वरका इस विषयमें ब्रह्माण्डसे वही संबंध है, जो खम्भेको भवनसे है। इतनी बात न कह कर, वेद्ने भी आलङ्कारिक संक्षेपसे काम लेते हुए केवल स्कम्भसे ईश्वरको लक्षित कर दिया है। मैंने कदाचित् कलही यह भाव दर्शाया था कि इस व्यक्तके इधर भी और उधर भी अव्यक्त रहता है। इस वर्णनमें थोड़ासा और विचार करते हैं। 'अव्यक्त' दो प्रकारका है। एक वह जो सदा अव्यक्त रहता है। दूसरा वह, जो सर्गकालमें व्यक्त होकर, प्रलयकालमें पुनः अव्यक्त होजाता है। प्रथम अव्यक्त परम अव्यक्त कहा जा सकता है। वह, वह आध्यात्मिक, सर्वगत तत्त्व है, जो सर्वदा अखण्ड, एकरस रहता है। सब पदार्थोंके परिवर्त्तनशील होते हुए भी, वह एक, तद्वस्थ अवशेष रह जाता है। इसी लिये उसे सदा पृथक् सा रहनेसे शेष कहा गया है। परन्तु वह वास्तवमें किसी कोनेमें शेष पड़ा रहने वाला 'शेष' नहीं है। वह 'नाग' है। अग कहते हैं गति रहितको, अतः 'नाग' वह हुआ, जो गति वाला हो। अर्थात् प्रभु नित्य, अपरिणामी होनेसे 'शेष' और सर्वगत होनेसे 'नाग' कहलाता है। कविता यहीं तक न रह सकी। 'नाग'के धात्वर्थको सर्पके साधारण, प्रचलित अर्थके अन्दर लीन करके, यह कल्पना चलादी कि इस ब्रह्माण्डका आधार शेष नामका महाविस्तृत, सर्प विशेष है।

लोक०—तो क्या यह सब कपोल-कल्पना ही है ?

सत्य०—और, क्या आपने वास्तवमें यही समझ रखा था कि ऐसा कोई सर्प होगा, जो सबको धारण कर रहा होगा!

वस्तु०—हो भी, तब भी तो आधारका प्रश्न तो हल न होगा। वह सर्प भी तो ब्रह्माण्डका भाग ही होगा! उसे कौन धारण कर रहा होगा ? भवनको खम्भे धारण करते हैं। खम्भोंको पृथिवी धारण करती है। उसे वह सर्प धारण करता है। और उसे ? अवश्य कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिये, जो इस प्रपञ्चसे सदा पृथक् रहने वाली हो। उसीके विषयमें महाराजने (परम अव्यक्त)का शब्द कहा था।

लोक०—यह भी सुना जाता है कि एक बैल इस जगत्को अपने सींगोंपर धारण करता है।

महा०—भोले भाई, यहां भी वही राम कहानी है। बैलके लिये संस्कृतमें 'गौ' शब्द है। इसका अर्थ है 'गतिमान्'। वही भाव जो नाग शब्दमें पाया जाता है।

माया०—महाराज, यह सींग और फण क्या हुए ?

महा०—जब बैल और सर्पकी कल्पना हो गयी, तो रूपकको पूरा करनेके लिये, इन शब्दों द्वारा प्रभुकी अनन्त शक्तिका संकेत किया गया। प्रश्न पैदा हुआ कि सर्पमें यह शक्ति कैसे है कि वह सब बोझको उठा रहा है ? उत्तर मिला कि, उसके असंख्य, विशाल फण हैं। उनपर सबको उठाता है। अलंकारको निकाल कर यह भाव बनता है कि प्रभु अपनी महिमासे सबको धारण करता है। उसे किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती। नहीं २, उसकी शक्तियोंका क्या पूछने हो ?

जैसे बैलके सींगपर बैठे हुए पक्षका बोझ बैलको प्रतीत तक नहीं होता, ऐसेही ईश्वरके लिये जगत्का सारा धारण और पोषण लीला समान है।

वस्तु०—महाराज, जो आकर्षण तथा गति प्रकृतिमें पाई जाती है। उसीके द्वारा सारा जगत् तुला हुआ भी तो माना जाता है।

महा०—पिछली शताब्दीके उत्तरार्धमें जब वैज्ञानिक चर्चा एक साथ तीव्रताके साथ चली थी, तो अवश्य ऐसाही प्रतीत होता था कि अब मनुष्यको ईश्वरके माननेकी आवश्यकता न पड़ेगी। परन्तु धीरे २ अन्धा जोश गम्भीर शान्तिमें बदल चुका है। अब गहरे पानीमें चलने वाले, विद्वान् आकर्षण और गतिको व्यक्तके साथ बंधाहुआ अनुभव करते हैं। जो शक्ति अव्यक्तको व्यक्तमें बदलनेके लिये मूलमें कांटा बदलती है, वही वास्तवमें सब ब्रह्माण्डको धारण करती है। इस समय, अर्थात् व्यक्त जगत्की अवस्थामें, निःसंदेह भौतिक गतिका नियम पर्याप्त है, परन्तु इसका यह भाव नहीं कि इस गतिके मौलिक प्रेरकको भूल जावें। इस लिये वेद्से लेकर, सब आप्त विद्वानोंने, सबकी प्रतिष्ठा उस परमदेवमें स्वीकार की है, जो स्वयं विना किसी अन्य आधारके प्रतिष्ठित रहता है। अब मैं आपको ' स्कम्भ ' सूक्त सुनाता हूं। यह बहुत बड़ा सूक्त है। घबरा न जाना। संक्षेपसे अर्थ करता जाऊंगा। कहीं २ कोई बात हो, तो पूछ भी लेना। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मन्त्रमें नयी २ बात लिखी हो। एकही बातको अनेक प्रकारसे बार २ कह कर, उसका संस्कार दृढ़ किया जाता है।

(१) कस्मिन्नंगे तपो अस्याधितिष्ठति कस्मिन्नंग ऋतमस्याध्याहितम्। क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति कस्मिन्नंगे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥ १५॥ अथर्व० १०।७।१॥

अर्थ—(अस्य) इस [ब्रह्माण्डके आधार, परमदेव]के (कस्मिन्) किस (अंगे) भागमें (तपः) तप (अधि-तिष्ठति) निवास करता है; (कस्मिन्) किस (अंगे) भागमें (ऋतं) ऋत (अधि आ-हितं) रखा रहता है। (क्व) कहां (व्रतं) व्रत [और] (क्व) कहां (श्रद्धा) (अस्य) इसके [भागोंमें] (तिष्ठति) ठहरती है ? (अस्य) इसके (कस्मिन्) किस (अंगे) भागमें (सत्यं) सत्य (प्रतिष्ठितं) प्रतिष्ठित होता है ? ॥ १५॥

तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा और सत्य आध्यात्मिक भाव हैं। जगत् की रचना और प्रचालनमें इनका सद्भाव पाया जाता है। वेद परमेश्वरकी ओर संकेत करनेके लिये यहां भी उसी कुतूहलजनक, प्रश्न-शैलीका प्रयोग करता है, जिसका आप 'नासदीय' सूक्तमें परिचय प्राप्तकर चुके हैं। बताओ, इन गुणोंका मूल स्रोत कहां है ? इनके आधारपर सारा भौतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन चलता है। इनके विना एक पग धरना भी असंभव होजाता है। इन्हींके द्वारा विश्वव्यापक नियमोंका परिचय होता और हृदय-मन्दिरमें विश्वासकी रेखा जागृत होती है। सारा व्यवहार चल पड़ता है। तनिक इस विश्वासको ठेस पहुंच जावे, झट सब अन्धकार होजाता है। यदि यह बात है, तो वेद प्रेरणा करता है कि उस मूलकी ओर बढ़ो, जो इन उत्तम भावोंका वास्तविक आधार है।

(२) कस्मादंगाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादंगात् पवते मातरिश्वा । कस्मादंगाद् वि मिमीतेधिचन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अंगम् ॥ १६ ॥

अर्थः—(अस्य) इसके (कस्मात्) किस (अंगात्) अंगसे (अग्निः) आग (दीप्यते) प्रकाशमान हो [पड़ती] है; (अस्य) इसके (कस्मात्) किस (अङ्गात्) अंगसे (मातरिश्वा) वायु (पवते) चल पड़ती है। (महः) बड़े (स्कम्भस्य) स्कम्भके (कस्मात्) किस (अंगात्) अंगसे (अंगं) भागको (मिमानः) मापता हुआ (चन्द्रमाः) (अधि-वि-मिमीते) ऊपरको चढ़ता आता है?

भौतिक विकासके आरंभमें आध्यात्मिक प्रेरणाको आवश्यक समझकर, उसका प्रथम मन्त्रमें वर्णन किया गया। अब इस मंत्रमें भौतिक पदार्थोंकी ओर उसी प्रकार ध्यान आकर्षित करके, प्रश्न द्वारा जगदीश्वरका चिन्तन कराया जाता है। अग्नि और वायुका आधार वही है। चन्द्र उदय होता है। कहांसे निकल आता है? यह आकाश उस स्कम्भका एक प्रकारसे विस्तृत अंग है। चन्द्रमा इसे मापता हुआ ऊपरको बढ़ता चला जाता है। कौन इसे ऐसा करवा रहा है? सोचो और समझो।

(३) कस्मिन्नंगे तिष्ठति भूमिरस्य कास्मिन्नंगे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्। कस्मिन्नंगे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नंगे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥१७॥

अर्थः—(अस्य) इसके (कस्मिन्) किस (अंगे) अंगमें (भूमिः) भूमी (तिष्ठति) खड़ी है? (कस्मिन्) किस (अंगे) अंगमें

(अन्तरिक्षं) मध्यलोक (तिष्ठति) खड़ा है? (कस्मिन्) किस (अंगे) अंगमें (आहिता) स्थापित हुआ (द्यौः) द्युलोक (तिष्ठति) ठहरता है? (कस्मिन्) किस (अंगे) अंगमें (दिवः) द्यु-लोकसे [भी] (उत्तरं) ऊपरका [लोक] (तिष्ठति) ठहरता है? ॥१७॥

वस्तु०—महाराज, क्या भूमी खड़ी है? यह तो प्रतिक्षण अत्यन्त वेगसे सूर्यके इर्द गिर्द घूम रही है।

महा०—ठीक है, पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है। इसी लिये वेदमें अनेक स्थानोंपर इसे गौ शब्दसे वर्णन भी किया गया है। परन्तु यहां गतिका संकेत मुख्य नहीं। यहांपर आधार आधेयके भावको दृढ़ करके बतलाना है। तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो यहां सूर्य भी कब खड़ा है? स्थूल दृष्टिको वर्तें तो हम चलते फिरते हैं, परन्तु पृथिवी खड़ी है। इस लिये गति आदिकी प्रतीति सदा देखने वाले और दिखाई देने वाले पदार्थोंके मध्यमें परस्पर अपेक्षाकृत होती है। हम पृथिवीको साथ लेकर सूर्यको स्थिर मान लेते हैं। परन्तु वास्तवमें सूर्य भी स्थिर नहीं। परमाणु २ गतिमान् होरहा है। सब पदार्थ बिलोये जा रहे हैं, मथे जा रहे हैं, रगड़े जा रहे हैं और टुकड़े २ किये जारहे हैं। परन्तु चित्रका दूसरा रूप भी मौजूद है। नये २ पदार्थ जुड़ रहे हैं और उनपर स्थायी सृष्टि होरही है। इस प्रकारके स्थूल दृष्टिसे दृष्टिगोचर होने वाले, अवस्थानको ही यहां सामने लाकर, वेद प्रश्न द्वारा इसके आधारकी ओर संकेत करता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ सबका आधार वही जगदीश्वर है। पर, क्या ब्रह्माण्ड द्यौ तक ही समाप्त होजाता है? नहीं, केवल हमारी आंख उसके आगे नहीं बढ़ सकती।

तो न बढ़े, प्रभु तो आगे भी भरपूर होरहा है। वह सर्वत्र अपनी महिमा द्वारा सबको धारणकर रहा है। फिर इसी विषयको दूसरे प्रकारसे कहते हैं।

(४) क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा। यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः-स्विदेव सः॥ १८॥

अर्थः—(क्व) कहां (प्र-ईप्सन्) पहुंचनेकी इच्छासे (अग्निः) आग (ऊर्ध्वः) ऊपरको (दीप्यते) प्रज्वलित होती है? (क्व) कहां (प्र-ईप्सन्) पहुंचनेकी इच्छासे (मातरिश्वा) वायु (पवते) बहती है? (यत्र) जहां (प्र-ईप्सन्तीः) पहुंचनेकी इच्छा करते हुए (आ-वृतः) जल (अभि-यन्ति) आगे बढ़ते चले जाते हैं, (तं) उस (स्कम्भं) स्कम्भको (ब्रूहि) कहो, [बताओ तो सही] (सः) वह [कतमः-स्वित्] कौनसा (एव) ही [है]?॥ १८॥

जब भी आग जलती है, उसकी ज्वाला ऊपरको ही लपकती है। कहां पहुंचना चाहती है? आंखों वालो, देखो और सोचो। आगकी ज्वाला कुछ इशारा करती है। वायुके झोंके आ २ कर कानोंमें कुछ कहते है। खोलो, कान खोलो और ध्यानसे सुनो। गड़ २ मूसलाधार जल बरसता है। नदी, नाले ठाठें मारते हुए आगे ही आगे बढ़ते चले जाते हैं। इनका लक्ष्य कोई दूरवर्ती स्थान प्रतीत होता है। मार्गमें विघ्न आते हैं। पर, जलके प्रवाह चक्र काट २ कर फिर अपने मार्गपर पड़ जाते हैं। क्या समुद्र इनका प्राप्य स्थान है? नहीं, यदि ऐसा होता, तो वहां पहुंचकर यह प्रवाह शान्त होकर ठण्डे पड़

जाते। ठाह २ करके, लहरें लहरोंसे न टकरातीं। इतना शोर न होता। फिर बादल बनकर ऊपरको उठाव न होता। और वहां भी जलोंको आराम नहीं मिलता। फिर टिप २ करते हुए बरसने लग जाते हैं। इनके यह चक्र कब समाप्त होंगे? कौन इन्हें ऐसा करा रहा है? उसे ही तो यह जा २ कर आकाशमें क्या, पृथिवीपर क्या और समुद्रमें क्या बुलाते हैं? वह देव बोलता क्यों नहीं? क्या समझे हो, वह देव कौनसा है? क्या उस अनादि, अनन्त खम्भेका स्वरूप मनके सामने आगया? नहीं आया, तो जाओ, आगका साथ दो। वायुका साथ दो। जलोंके साथ चक्र काटो। जब उन्हें अपना प्यारा मिल जावेगा, तो तुमको भी दर्शन हो जावेंगे। प्रभुको देखना चाहते हो, तो उसकी विभूतियोंके महत्त्वको अनुभव करना सीखो। इन देवताओंको गुरु धारण करो। आधिदैविकसे आध्यात्मिककी ओर बढ़ो। यही वेदका मार्ग है।

शून्य०—महाराज, क्या कहते हैं? मुझेभी साथ घसीटते चलें।

महा०—तनिक आंखें खोलकर सृष्टिका विस्तार देखो। वेदका यह मार्ग है कि मनुष्य स्थूल कार्यसे सूक्ष्म कारणकी ओर प्रवृत्त हो। जिसने जगत्के वैभवका अनुभव नहीं किया, वह पूरे मानसिक वेगके साथ इसके निर्माताकी तलाशमें नहीं लग सकता। जिज्ञासा तब पैदा होगी, जब साधारण घटनाओंमें विचित्रता देखने वाली आंख खुलेगी। आधिदैविकसे तात्पर्य बाहिरकी विभूतियोंमें बल और प्रकाशको अनुभव करना है और आध्यात्मिकसे भाव, उनके अन्दर और उनसे परे, विराजमान, अविनाशी, आत्मतत्त्वको देखना है।

(५) क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सहसंविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कंम्भं तं० ॥१९॥

अर्थः—(संवत्सरेण) वर्षके (सह) साथ (संविदानाः) संगठित होते हुए (क्व) कहां (अर्धमासाः) अर्धमास [और] (क्व) कहां (मासाः) मास (यन्ति) जाते हैं? (यत्र) जहां (ऋतवः) ऋतु [और] (यत्र) जहां (आर्तवः) ऋतुओंमें होने वाले (यन्ति) जाते हैं [उस स्कम्भको समझो] ॥१९॥

अब समयपर कुछ विचार करो। देखो, कितना समय बीता जा रहा है। जाओ, नदीके तटपर खड़े होकर, उसके प्रभावसे पूछो। कबसे यह ऐसे ही चलता जा रहा है? कबसे सूर्य और चांद ऐसे ही चमक रहे हैं? कबसे ओषधियां और वनस्पतियां ऐसे ही पकती, फलती और गिरती चली आरही हैं। यहां पक्षों और मासोंका क्या हिसाब? यहां वर्षोंकी क्या गिनती? ऋतुओंका क्या ठिकाना? उनमें पैदा होने वाली सृष्टिका क्या कहना? यह कबसे ऐसे ही चलता है और कब तक चलेगा? यह भयानक प्रश्न है। इसका कोई उत्तर नहीं। चटानसे माथा मत फोड़ो। उस महामहिम देवका ध्यान करो, जो इस सब अद्भुत कारीगरीका कारीगर, इसकी तरह अनादि और अनन्त है। क्या इससे भी बढ़कर समयकी पहुंचसे वह परे नहीं है? उस देश और कालकी मर्यादासे रहित, स्कम्भका ध्यान करो। वही सबका मूलाधार है.

(६) क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं० ॥२०॥

अर्थः—(क) कहां (प्र-ईप्सन्ती) पहुंचनेको (युवती) जवान (विरूपे) अलग २ रूप वाले (संविदाने) परस्पर मिले हुए (अहोरात्रे) दिन और रात (द्रवतः) भागे चले जाते हैं ? (क) कहां (प्र-ईप्सन्तीः) पहुंचनेकी इच्छा वाले (आपः) जल (अभियन्ति) आगे २ जाते हैं ? [सबके लक्ष्यभूत स्कम्भको पहचानो] ॥२०॥

दिन रातका चक्र भी खूब चलता है। नित्य वैसेका वैसा है। इसकी नित्य, नयी जवानी है। एक प्रकाशरहित और दूसरा प्रकाशसहित, पर क्या मजाल, जो आपसमें कोई भेद होसके ! पर इनकी यह दौड़ ? किधरको है ? कोई पता है ? आश्चर्य, आश्चर्य है !

(७) *यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् ।*

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२१॥

अर्थः—(यस्मिन्) जिसमें (स्तब्ध्वा) धारण करके (प्रजापतिः) प्रजापति ने (सर्वान्) सब (लोकान्) लोकोंको (अधारयत्) धारण किया, (तं) उस (स्कम्भं) आधारको (ब्रूहि) बताओ (सः) वह (कतमःस्वित्) कौनसा (एव) ही [है] ? ॥२१॥

माया०—क्या प्रजापति और है, जिसने यह सब कुछ रचा है और मूलाधार शक्ति और है ? वेदान्ती लोग शुद्ध ब्रह्मसे व्यवहारमें हिरण्यगर्भ, विराट, और तैजसको अलग २ मानते हैं, यद्यपि वास्तवमें वे शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं। क्या यहां भी ऐसा ही भाव है ?

महा०—नहीं, यह भाव प्रतीत नहीं होता। प्रजापति भी

वही है और स्कम्भ भी वही है। वही परम देव सब संसारका सर्जनहार है और वही इसका आधार है। उत्पत्ति आश्रयकी सदा अपेक्षा करती है। इस लिये कहा जा सकता है कि भगवान्‌की उत्पादक शक्ति उसकी आधारक शक्तिके आश्रित होकर काम करती है। 'प्रजापति' शब्द उत्पादक शक्तिका वाचक है। इसी अभिप्रायसे यह कहा गया है कि प्रजापतिने स्कम्भपर आश्रित होकर सब सृष्टि रची।

उप०—तो प्रजापति कोई अलग देव नहीं है। सुनते हैं, चतुर्मुख ब्रह्मा सृष्टि करने वाला देवता है और उसे ही प्रजापति कहते हैं।

महा०—भाई, वह ब्रह्मा भी तो उत्पन्न हुए विना प्रकट नहीं हो सकता। तो जो शुद्ध ब्रह्म उस ब्रह्माका उत्पादक मानोगे, वही क्यों न सबका उत्पादक कहा जावे। ब्रह्माको उत्पन्न करके उसकी शक्ति क्षीण थोड़े हो सकती थी। न ही ऐसा किसी वादीको अभिमत है। तो फिर बीचमें किसी अन्य अप्रमाणित और अपेक्षित देवता को माननेकी क्या आवश्यकता है? इस लिये यही कहना ठीक है कि ब्रह्मा या प्रजापति शब्दों द्वारा परमदेवकी उत्पादक शक्तिको प्रकट किया जाता है।

वस्तु०—महाराज, एक शक्ति दूसरी शक्तिके आधार पर कैसे प्रवृत्त होती है? किसी दृष्टान्तसे समझाइए।

महा०—बहुत दूर मत जाओ। हमारे सबके अन्दर इच्छा, सुख, दुःखका अनुभव तथा प्रयत्नकी शक्तियां पायी जाती हैं। हम इच्छा करते हैं कि काम करना चाहिये। हम काम करने

लग जाते हैं। साथ ही काम भी करते जाते हैं और उसमें सुख, दुःखकी भावना भी करते जाते हैं। यह भावना प्रयत्नपर और प्रयत्न इच्छापर आश्रित होकर रहते हैं। ये सारे आत्मा पर आश्रित हैं। आत्माको हम प्रत्यक्ष इन आंखोंद्वारा नहीं करते। परन्तु उसकी इच्छादि विभूतियोंको प्रत्यक्ष करते हैं। इस दृष्टान्तको और आगे न ले जाकर, इसीसे समझलो कि किस तरह परब्रह्मके अनन्त गुण परस्पर आश्रय और आश्रयी बन कर नाना प्रकारकी रचनामें निमित्त बन रहे हैं। अगले मन्त्रमें इसी भावको और दृढ़ किया है।

(८) यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥२२॥

अर्थः—(यत्) जो (परमं) परेसे परे (अवमं) समीपसे समीप (च) और (यत्) जो (मध्यमं) मध्यवर्ती (विश्वरूपं) सर्व रूपों वाली [रचना] (प्रजापतिः) प्रजापतिने (ससृजे) रची (तत्र) उसमें (कियता ; कितने [अंश] में (स्कम्भः) स्कम्भ (प्रविवेश) प्रविष्ट हुआ; (यत्) जिसमें [वह] (प्राविशत्) दाखिल (न) नहीं हुआ (तत्) वह (कियत्) कितना (बभूव) था ? ॥ २२ ॥

इस प्रश्नका स्वाभाविक उत्तर है। स्कम्भने कहीं अन्य स्थानसे आकर थोड़े ही प्रवेश करना था। जहां सृष्टि हुई, वहां आधाररूप, स्कम्भ तो पहिले ही था। फलतः, यह समझो कि वह जगदीश्वर स्थूलसे स्थूल और सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंमें समा रहा है। वह दूरसे दूर और समीपसे समीप

मौजूद है। जो कुछ है वह निराधार हो नहीं सकता। अतः, स्कम्भसे रिक्त कोई भाव-पदार्थ रह नहीं सकता। जहां स्कम्भ नहीं है, वह स्थान और वह पदार्थ भी नहीं है। पुनः दूसरे प्रकारसे स्कम्भकी सर्वव्यापकताको समझाते हैं।

(९) *कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेस्य।*
एकं यदंगमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥२३॥

अर्थः—(कियता) कितने [अंश] में (स्कम्भः) स्कम्भ (भूतं) रचे जा चुके [जगत्] में (प्र विवेश) प्रविष्ट हुआ [और] (अस्य) इसका (कियत्) कितना [अंश] (भविष्यत्) जो होने वाला है, उसके (अनु-आ-शये) साथ पड़ा है? (यत्) जब (एकं) एक (अंग) भागको [उसने] (सहस्रधा) असंख्य प्रकारसे (अकृणोत्) रचा [तो] (स्कम्भः) स्कम्भ (कियता) कितने [अंश] में (तत्र) उसमें (प्रविवेश) प्रवेश कर गया? ॥ २३ ॥

कालका भेद तो हमारे व्यवहारमें है। स्कम्भकी अपेक्षा कोई सूर्यादिके समान ऐसा पृथक् पदार्थ नहीं हो सकता, जिससे उसके हां भी भूत और भविष्यत्का भेद हो। सच पूछो तो उसके सामने कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं हो सकता, जिसका विकास उससे छिपा हुआ हो। मेरे और आपके लिये कुछ पदार्थ बन चुके हैं और कुछ बनेंगे। परन्तु परमदेवके लिये सब कुछ एक समान वर्तमान हो रहा है। अतः, वेदने कालके विषयमें मनुष्यके अपेक्षाकृत भेदोंकी ओर संकेत करते हुए उपदेश किया है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् भेदसे भी

जितनी रचना हो सकती है, उसमें भी स्कम्भ सर्वत्र समा रहा है।

सत्य०—महाराज, जो भविष्यत्में रचना होगी, उसमें वह अभींसे कैसे समा रहा है? वह तो अभाव-पदार्थ ठहरा।

महा०—अरे भावका भी कभी अभाव बन सकता है? भविष्यत्की रचना कार्यरूप है, तो वर्तमान प्रपञ्च उसका बीज अर्थात् कारणरूपहै। यही कालान्तरमें परिणाम द्वारा नये रूपको धारण करने वाला है। इसमें स्कम्भ है। इसके कारणमें भी था। इसी प्रकार इसके कार्यमें भी होगा। इसमें आश्चर्य ही क्या है? उत्तरार्धमें भावको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। वेद् कहता है कि तुम इस रचनाके अन्दर स्कम्भसे शून्य भागोंकी व्यर्थ तलाश मत करो। यह सारी रचना तो अनन्त ब्रह्मके, मानो, एक भागका ही चित्र, विचित्र परिणाम है।

माया०—क्या ब्रह्मका कोई भाग परिणामी भी होता है? फिर तो सारा ब्रह्म परिणामी हो जावेगा। अतः नित्य, अखण्ड, एकरस कैसे रहेगा?

महा०—यहां भागसे ब्रह्मका अपना वास्तविक भाग मत समझो। वह निरवयव है। आपको पहिले बता चुका हूं कि ब्रह्म परमाव्यक्त और प्रकृति अव्यक्त है। परमाव्यक्त अव्यक्तके अन्दर और बाहिर समा रहा है। अर्थात् अव्यक्तकी अपेक्षा परमाव्यक्त अधिक सूक्ष्म और अधिक विशाल समझना चाहिये। इसी भावसे मानवी भाषामें प्रकृतिको स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार, परमाव्यक्तका एक भाग समझ सकते हैं। यह बात केवल समझनेके लिये है। इसे ही लाक्षणिक कहते हैं। यहां

भागोंकी तात्त्विक कल्पना नहीं है। वस्तुतः प्रकृति ब्रह्मसे सर्वथा भिन्न है। वह परिणामी है। नाना रूपोंको धारण करती है। स्कम्भ समान भावसे उसके सब रूपोंका परमाधार बनकर, एकरस मौजूद रहता है।

(१०) *यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २४ ॥*

०—१० ॥

अर्थः—(यत्र) जिसमें (लोकान्) लोकों (च) और (कोशान्) कोशों (च) और (आपः) जल [तथा] (ब्रह्म) को (जनाः) लोग (विदुः) जानते हैं [और] (यत्र-अन्तः) जिसके अन्दर (असत्) (च) और (सत्) [मौजूद रहते हैं] (तं) उस (स्कम्भं) स्कम्भको (ब्रूहि) कहो (कतमः-स्वित्) कौनसा (एव) वस्तुतः (सः) वह [है] ? ॥२४॥

लोक भी उसीमें हैं। लोकोंके वातावरणादि कोश भी उसीमें है। सागरोंके बीचमें पृथिवी है। सागर वायुमण्डलसे घिरे हुए हैं, परन्तु स्कम्भ सबको घेर रहा है। उसीमें ब्रह्म है। वह स्वयं ब्रह्म है। उससे भिन्न कोई दूसरा ब्रह्म अर्थात् बड़ा नहीं है। असत् अर्थात् अव्यक्त और सत् अर्थात् व्यक्त उसीके अन्दर है। कहो, वह कितना बड़ा है? विचार कर सकते हो?

सत्य०—महाराज, इस सूक्तमें और कितने मन्त्र हैं?

महा०—मैंने आरंभ करते हुए ही कहा था कि यह सूक्त लंबा है। चालीससे अधिक इसमें मन्त्र पाये जाते हैं।

मूलरूपसे बात आपने समझली है। बहुतसे मन्त्रोंमें उसीका विस्तार है। अब मैं कुछ और विशेष २ मन्त्रोंको आपके सामने रखकर, आजकी चर्चाको समाप्त करूंगा।

(११) ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्। ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥ २५॥　　　　　०—१७॥

अर्थः—(ये) जो (पुरुषे) पुरुषमें (ब्रह्म) को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको (विदुः) जानते हैं, (यः) जो (परमेष्ठिनं) परमेष्ठीको (वेद) जानता है (च) और (यः) जो (प्रजापतिं) प्रजापतिको (वेद) जानता है; (ये) जो (ज्येष्ठं) सबसे बड़े (ब्राह्मणं) ब्राह्मणको (विदुः) जानते हैं (ते) वे (स्कम्भं) स्कम्भको (अनु-सं-विदुः) ठीक २ जानते हैं॥ २५॥

इस मन्त्रने स्वयं स्पष्ट उपदेश कर दिया है कि मूलाधार, परमदेवके अनेक स्वरूप और इस लिये अनेक नाम हैं। जो एक स्वरूपको समझ लेता है, उसे उसके प्रभावसे दूसरा स्वरूप भी समझ आ जाता है। मनुष्योंकी प्रकृति भिन्न २ होनेसे, उनपर जगत्के प्रभाव भी भिन्न २ ही पड़ते हैं। कोई भगवान्को पुरुष अर्थात् ब्रह्माण्डरूपी नगरीमें भरपूर होने वाले देवके स्वरूपमें समझता है। जब यह स्वरूपमें, ध्यानमें आगया, तो परमेष्ठी, अर्थात् भगवान् सबसे अधिक विशाल है, यह भाव स्पष्ट होजाता है। वही सब प्रजाको रचता और वह उसकी रक्षा करता है। वही सबसे बड़ा ब्राह्मण अर्थात्

उपदेष्टा, गुरू है। उसीकी साक्षात् प्रेरणासे परमज्ञानका प्रदीप प्रकाशित होता है। जब परम विद्वान्, अनुभवी, साक्षात्कारी परमतत्त्वकी ओर संकेत करते हैं, तो जो लोग इस प्रकारसे वर्णित मूलशक्तिका स्वरूप अन्तःकरणमें बिठा लेते हैं, वे ही "स्कम्भ" को पाते हैं। ये जितने स्वरूप वर्णन किये गये हैं, ये सबके सब उसीके स्वरूप हैं।

(१२) असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यंतेवरे ये ते शाखामुपासते ॥२६॥ ०—२१॥

अर्थः—(प्रतिष्ठन्तीं) प्रतिष्ठाको पाती हुई (असत्-शाखां) असत्की शाखाको (परमं-इव) परमतत्त्वकी तरह (जनाः) लोग जानते हैं। (उतो) और (अवरे) [उनकी अपेक्षा] छोटे लोग (ये) जो [हे स्कम्भ] (ते) तेरी (शाखां) शाखाकी (उप-आसते) उपासना करते हैं [वे उसे] (सत्) (मन्यंते) समझते हैं॥ २६॥

तीन प्रकारकी जनताकी ओर वेद इस मन्त्रमें संकेत करता है। दोका मुख्यरूपसे वर्णन है, तीसरे प्रकारका स्वयं ग्रहण हो जाता है। साधारण लोग इस प्रपञ्चको देखते हैं। वे इसका उपभोग करते हैं। सुखको सुख और दुःखको दुःख कहते हैं। उनके लिये यही परम सत्य है। न केवल व्यक्त होनेसे, वरन् इसका ही प्रत्यक्ष हो सकनेसे, उनके लिये यह जगत्की शाखा अर्थात् विस्तार यथार्थ सत् है। वे ऐसा ही मानते हैं और ऐसा ही व्यवहार करते हैं। उनसे आगे वे लोग हैं, जो सृष्टिकी रचनापर विचार करते हुए इस परिणाम पर पहुंचते

हैं कि यह प्रपञ्च अव्यक्त प्रकृतिका परिणाम है। परन्तु उससे आगे न बढ़कर, वे वहीं रुक जाते हैं। उनको यह नहीं सूझता कि उस अव्यक्तकी प्रतिष्ठा किसमें है? व्यक्त संसारके नाचसे असन्तुष्ट होते हुए भी, वे वास्तवमें परमपद तक नहीं पहुंचते। वस्तुतः परमधामका स्वरूप समझने वाले, बड़े विरले, महाभाग होते हैं। वे इस सत्को असत्का परिणाम समझते हैं और इन दोनोंके मूलाधार, स्कम्भकी उपासना करते हैं। शाखाओंसे आगे मूलकी ओर बढ़ते हैं।

(१३) यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २७ ॥ ०—२४॥

अर्थः—(यत्र) जिसमें (देवाः) देवता (ब्रह्म-विदः) ब्रह्मको जानते हुए (ज्येष्ठं) ज्येष्ठ (ब्रह्म) की (उपासते) उपासना करते हैं; (यः) जो (वै) वस्तुतः (तान्) उन्हें (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (विद्यात्) जान सके, (सः) वह (ब्रह्मा) (वेदिता) ज्ञानी (स्यात्) हो जावे ॥ २७ ॥

देवताओंसे सूर्यादि भौतिक विभूतियोंका ग्रहण होता है। यह अगले मन्त्रके साथ मिल जानेपर और स्पष्ट हो जावेगा। अब प्रश्न होता है कि भौतिक देवता ब्रह्मको कैसे जानते और उपासते हैं। सूर्य अपने प्रचण्ड प्रकाशसे न केवल शारीरिक विकासका ही निमित्त बन रहा है, वरन् विचार करने वालोंके आन्तरिक नेत्र भी खोल रहा है। उसकी किरणें क्या हैं, मानो, भगवान्के द्वार तक पहुचाने वाली डोरियां हैं। यही सूर्यका ब्रह्मज्ञान है और यही उसकी

ब्रह्मोपासना है। वह इन दोनोंमें निमित्त बन रहा है। निमित्तमें नैमित्तिक उपचार ऐसे ही होता है। लाक्षणिक अर्थोंका वर्णन कर चुका हूँ। उसीके अन्तर्गत यह भी समझो। इसी भावको पुष्ट करते हुए वेद कहता है कि जो मनुष्य अन्तःकरण द्वारा सूर्यादि देवोंको इस प्रकार ब्रह्मसे परिपूर्ण और उसके ज्ञापकोंके रूपमें प्रत्यक्ष जान लेता है, वही सच्चा ज्ञानी होनेसे ब्रह्मा समझो।

सत्य०—महाराज, यह ब्रह्मा प्रजापतिसे कोई और है?

महा०—हां, यहां यज्ञके अन्दर नियुक्त होने वाले, इस नाम वाले प्रधान पुरोहितकी ओर संकेत है। वेदका यह आशय है कि ब्रह्माका काम केवल ऊपर २ की क्रियाकी परीक्षा करना नहीं है। उसे वस्तुतः ब्रह्मवित् होना चाहिये। उसे प्रत्येक भौतिक विभूतिको धारण करने वाली अनन्त शक्तिका सर्वत्र प्रत्यक्ष होना चाहिये। आहा, यदि ऐसे पुरोहित कर्मकाण्डके निरीक्षक बने रहते, तो यज्ञोंके नामपर इतने अनर्थ यहां और दूसरे देशोंमें क्यों होते?

(१४) बृहन्तो नाम ते देवा ये सतः परि जज्ञिरे। एकं तदंगं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २८ ॥ ०—२५ ॥

अर्थः—(ते) वे (देवाः) देवता (ये) जो (असतः) असत्से (परि-जज्ञिरे) विकसित हुए, (नाम) वस्तुतः (बृहन्तः) बड़े, विशाल [हैं]। [परन्तु जानने वाले] (जनाः) लोग (तत्) उस (असत्) को [ही] (स्कम्भस्य) स्कम्भका (परः) दूरवर्ती (एकं) एक (अंगं) भाग (आहुः) कहते हैं ॥ २८ ॥

देवता विशाल हैं, तेजस्वी हैं और बड़ी महिमा वाले हैं। पर हैं तो वे 'असत्' के परिणाम। जब वह 'असत्' ही स्कम्भकी विशालताका विचार करते हुए, कहीं, दूर कोनेमें पड़ा रहने वाला, तुच्छ पदार्थ है, तो देवताओं और स्कम्भका परस्पर मुक़ाबिला क्या किया जावे?

(१५) यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदंगं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २९ ॥ ०—२६ ॥

अर्थः—(यत्र) जिस [समयमें] (स्कम्भः) स्कम्भने (पुराणं) अनादि [प्रकृति] को (प्र-जनयन्) प्रकट करनेके भावसे (वि-अवर्तयत्) घुमाया, [तो उस समयके] (तत्) उस (पुराणं) अनादि [पदार्थ] को [अनुभवी लोग] (स्कम्भस्य) स्कम्भका (एकं) एक (अंगं) अंग (अनु-सं-विदुः) भली प्रकार समझते हैं ॥ २९ ॥

इस मन्त्रमें यह भाव स्पष्ट करदिया गया है कि स्कम्भ जगतका मूलाधार तथा निमित्त कारण है। उसके ज्ञानकी प्रथम प्रेरणासे 'अव्यक्त' में हल चल मच जाती है। यहां उस मूल उपादानकारणको 'पुराण' अर्थात् अनादि कहा है। वह उस स्कम्भसे भिन्न मौजूद था। परन्तु उसकी प्रेरणाके विना निश्चेष्ट पड़ा था। स्कम्भ उसे चारों ओर से घेरे हुए था। अतः वह उसके एक अंगके समान था।

(१६) स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेध्यृतमाहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥३०॥ ०— २६

अर्थः—(स्कम्भे) स्कम्भमें (लोकाः) लोक (स्कम्भे)

स्कम्भमें (तपः) तप (स्कम्भे) स्कम्भमें (ऋतं) ऋत (अधि-आहितम्) ठीक प्रतिष्ठित हैं । (स्कम्भ) हे स्कम्भ, (त्वा) तुझे (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष (वेद) जान रहा हूं, (इन्द्रे) इन्द्रमें (सर्वं) सब कुछ (सम-आ-हितम्) धारण होरहा है ॥ ३० ॥

यह मन्त्र भक्तको, मानो, छलांग लगवाकर आगे धकेल ले जाता है । वह अनुभव-चक्षुसे लोकोंको और उनके नियामक तप और ऋतको भगवान्में आश्रित देखता है । अब उसका स्वामी उससे छिपा नहीं रह सकता । अब ये देवता उसके लिये भौतिक देवता नहीं रहते । उसकी सूक्ष्म दृष्टि इनके भौतिक स्वरूपको चीरकर अन्दर जाकर स्कम्भके दर्शन कर रही है । अब वह सूर्यकी ओर देखता है, तो वही उसके लिये अपने परम मित्रके घरका द्वार बन जाता है । वायु और बिजली, जिन्हें उसने भौतिक स्वरूपमें 'इन्द्र' कहकर पुकारा था, अब वह 'इन्द्र' भी आध्यात्मिक सत्तासे समाविष्ट प्रतीत होता है । वह वायु और बिजलीमें सब तप और ऋतकी प्रतिष्ठा नहीं देखता, वरन् सबके आदि कारण, आध्यात्मिक 'इन्द्र'में ही सब पदार्थोंको प्रत्यक्ष करता है उसके लिये स्कम्भ इन्द्र और इन्द्र स्कम्भ होजाता है । दोनों शब्द एक ही देवके दो स्वरूपों और दो विभूतियोंके प्रकाशक बन जाते हैं । इसी प्रकार उसके अनन्त नाम पड़ जाते हैं ।

(१७) *नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥३१॥*

०—३१ ॥

अर्थः—(नाम्ना) नामसे (नाम) को (जोहवीति) पुकारता है (सूर्यात्) सूर्यसे (पुरा) पूर्व (उषसः) उषासे (पुरा) पूर्व। (यत्) जब [वह भक्त] (प्रथमं) प्रकृष्ट रूपसे (अजः) गतिमान् (संबभूव) बन जाता है [तब] (सः) वह (ह) निश्चय करके (तत्) उस (स्वराज्यं) स्वराज्यको (इयाय) प्राप्त होता है, (यस्मात्) जिससे (परं) बढ़कर (अन्यं) अन्य [कोई] (भूतं) पदार्थ (न) नहीं (अस्ति) है ॥३१॥

भक्त पुकारता है। नाम २ से पुकारता है। प्रातःकाल जितना सुवेरे हो सके, उठकर भगवान्की आराधनामें लग जाता है। समय आता है जब उसका तप फलता है। प्रभु प्रसन्न होते हैं। भक्तकी टेरको सुनते हैं। उसे निहाल करदेते हैं। जितनी दौड़ उसने दौड़नी थी, वह दौड़ चुका है। जितनी गति प्राप्त करनी थी, वह सब प्राप्त करचुका है। अब उसे वह स्वराज्य मिलता है, जिसके सामने दिव्य से दिव्य पदार्थ तुच्छ प्रतीत होते हैं। अब वह चारों ओर भगवान्के विराट् स्वरूपका अनुभव करता हुआ, उसीके अभौतिक विस्तारमें अपने आपको लीन करता है। उसी एक, अनादि, शुद्ध, चेतन तत्त्वको वार २ नमस्कार करता है।

(१८) यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२। ०—३२॥

अर्थः—(यस्य) जिसकी (भूमिः) भूमी (प्रमा) तुला हुआ रखनेकी साधन भूत, [पांवोंके सदृश] है (उत) और (अन्तरिक्षं) मध्यलोक (उदरं) उदर [के सदृश है]। (यः) जिसने (दिवं)

द्युलोकको [अपना] (मूर्धानं) माथा (चक्रे) बनाया (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ (ब्रह्मणे) ब्रह्मको (नमः) नमस्कार हो ॥ ३२ ॥

(१९) *यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः । अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३३॥* ०—३३ ॥

अर्थः—(सूर्यः) सूर्य (च) और (पुनः-नवः) वार २ नया प्रतीत होने वाला (चन्द्रमाः) चांद (यस्य) जिसके (चक्षुः) नेत्र [हैं]; (यः) जिसने (अग्नि) आगको (आस्यं) मुख (चक्रे) बनाया (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ (ब्रह्मणे) ब्रह्मको (नमः) नमस्कार हो ॥ ३३ ॥

(२०) *यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसो भवन् । दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥* ०—३४ ॥

अर्थः—(यस्य) जिसकी (वातः) वायु (प्राणापानौ) प्राण और अपान [के समान] है; (अंगिरसः) चमकते हुए अंगारे [जिसकी] (चक्षुः) चक्षु (अभवन्) बन गये । (यः) जिसने (दिशः) दिशाओंको (प्र-ज्ञानीः) विशेष ज्ञानका साधन (चक्रे) बनाया, उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार हो ॥३४॥

सज्जनो, इस प्रकार सच्चा भक्त, शुद्ध भक्तिसे सदा भावित रहता है । वह अनुभव करता है कि सब संसारकी परम गति वह परमदेव है । उसीकी उपासनासे उसका सब प्रकारका अंधेरा दूर होजाता है । इस भावका द्योतक एक मन्त्र और कह कर बस करता हूं ।

(२१) *अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना । सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥३५॥* ० — ४० ॥

अर्थः—(तस्य) उसका (तमः) अन्धेरा (अपहतं) नष्ट हुआ; (पाप्मना) पापसे (सः) वह (व्यावृत्तः) हट गया । (यानि) जो (त्रीणि) तीन (प्रजापतौ) विधातामें (ज्योतींषि) ज्योतियां हैं (सर्वाणि) वह सब (तस्मिन्) उसमें [चमकने लगती हैं] ॥३५॥

प्यारो, भगवान् पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोकके अनन्त देवताओंमें प्रकाशमान होरहा है । उसका भक्त तीनों लोकोंमें उसीकी ज्योतिके दर्शन करता २, स्वयं उनसे चमक पड़ता है । प्रभु करे कि हम सबमें यह प्रकाश पैदा हो ।

एकादश खण्ड ।

आध्यात्मिक श्रद्धाकी पुष्टि ।

महा०—आपने देखा कि तर्कके आधारपर हमें किस प्रकार एक ऐसी शक्तिकी अपेक्षा बनी रहती है, जो अपनी प्रेरणासे इस जड़ जगत्को सजीव करदेती है । हम अनुभव करते हैं कि वे सूक्ष्म, परन्तु विस्तृत नियम जिन्हें हम वैज्ञानिक साधनों द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं, स्वयं ही नहीं चल सकते । यह हो सकता है कि जैसे एक कारीगर यन्त्रको चलाकर, एक किनारे बैठ जाता है और वह यन्त्र विना उसकी सहायताके नियत समय तक चलता रहता है, वैसे ही इस ब्रह्माण्डरूपी महायन्त्रके आदि प्रेरकने भी इसे इतनी चाबी दे दी हो, कि यह विना रुके चलता जा रहा है। परन्तु इससे न उस कारीगरकी और न इस महान् कारीगरकी ही उपेक्षाकी जा सकती है। इसकी

सत्तामात्रसे ही प्रेरणा पैदा होती है और प्रकृतिका नाच होने लग जाता है। इसके इशारेसे ही नियत क्रमसे नियत काल तक वह नाच होता है और फिर वह भगवती सारे फैलावको साथ लेकर उसी महादेवमें लीन होजाती है। आपके मनमें जिज्ञासा पैदा हुई थी कि वेदका इस विषयमें मन्तव्य क्या है। सो वह भी संक्षेपसे आपने सुन लिया। वेदकी जिज्ञासाकी पोषक, विचित्र प्रश्न-शैलीका भी आपने दिग्दर्शन कर लिया। वेद जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, चेतन तत्त्वकी ओर संकेत करता है, वही अद्वितीय देव सदा श्रद्धासे धारण करने योग्य है। वस्तुतः उसने हम सबको धारण कर रखा है। हमारा धारण करना केवल इस बातको अनुभव करना होगा। इसका उपाय यही है कि इस परम रहस्यका वार २ मनन द्वारा अभ्यास दृढ़ किया जावे। इस बातमें वेद विशेष सहायता करता है। उसी विषयको ऋषि और देवताके भेदसे बदल २ कर इतने प्रकारसे उपस्थित करता है कि अभ्यासीके हृदयपर उसका पक्का रंग अवश्य चढ़ जाता है। कल आपने 'स्कम्भ' सूक्तका मनन किया था। इस समय हम कई स्थानोंसे विचारका संग्रह करेंगे। आप देखेंगे कि वेद एक अथाह, मधुर रस-सागर है। चाहे हम कहीं मुंह लगा दें, सर्वत्र वैसा ही मीठा प्रतीत होगा। ऋग्वेदके दसवें मण्डलमें विश्वकर्माका सूक्त बड़े महत्त्वसे पूर्ण है। आज पहिले उसीमेंसे कुछ भाग ग्रहण करते हैं।

(१) य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होतान्यसीदत्पिता नः। स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आ विवेश ॥ ३६॥

ऋक्० १० । ८१ । १ ॥

अर्थः —(यः) जो (ऋषिः) सर्वदर्शी (होता) हवन करने वाला (नः) हमारा (पिता) पालक (इमा) इन (भुवनानि) लोकोंको (जुह्वत्) होमता हुआ [स्वयं भी] (नि-असीदत्) तिरोहित होगया; (सः) वह (आशिषा) इच्छा द्वारा (द्रविणं) अर्थको (इच्छमानः) चाहता हुआ (प्रथम-छत्) पहिले [सब जगत्को] ढांपने वाला [होता हुआ] (अवरान्) पीछे आने वालोंमें (आ-विवेश) भरपूर होगया ॥ ३६ ॥

परमात्मा होता है । वह नित्य होम कर रहा है । तभी तो सारा संसार स्वस्थ रहता है । यदि कहीं रोग भी होता है, तो वह भी मलको जलानेके लिये होता है । परन्तु जिस होमकी ओर इस मन्त्रने इशारा किया है, वह यह नित्यका प्राकृतिक होम नहीं है । यहां उस महाभयानक, प्रलयकालीन होमका वर्णन है, जिसमें वह परम देव कराल कालका रुद्ररूप धारण करके सब लोकोंको, मानो, भस्मीभूत करके, फिर स्वयं भी उसी आगमें बैठ जाता है । न लोक रहते हैं और न वह स्वयं रहता है ।

वस्तु०—क्या भगवान्का अभाव हो जाता है ? यह तो विचित्र बात है ।

महा०—तो क्या इन लोकोंका अभाव हो जाता है ?

वस्तु०—नहीं, ये सूक्ष्म, अव्यक्त दशामें बदल जाते हैं । सर्वथा अभाव किसी भावका नहीं हो सकता ।

महा०—इस सृष्टिकी दशामें प्रत्येक पदार्थ भगवान्को एक प्रकारसे प्रकट कर रहा है । जिधर देखो, अनुभवीको वही

खड़ा हुआ, अपनी महिमाकी ओर संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। परन्तु प्रलय होते ही क्या होता है। मानो, प्रभु बैठ जाता है। अब वह दिखाई नहीं देता। तिरोहित सा हो जाता है। सच बात तो यह है कि उसे देखने वाला ही कोई नहीं रहता। भगवान् तो सदा एक रूप रहता है। देखनेवालों और उनके साधनोंके स्वरूपमें परिवर्त्तन होता है। इस परिवर्त्तनका भगवान्पर यद्यपि कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, तो भी मानव बुद्धि तथा विचारकी परिभाषामें उपचारसे ईश्वरका तिरोभाव बतलाया है। पूर्वार्धमें प्रलयका संकेत करके, उत्तरार्धमें सृष्टिका वर्णन करते हैं, परन्तु यहां भी यज्ञके साथ संबन्ध जोड़कर ही इशारा किया गया है। होता यज्ञ करा कर, आशीर्वाद देता हुआ यजमानसे द्रविण अर्थात् अर्थकी कामना करता है। इस महायज्ञका भगवान् होता है। वह भी 'द्रविण'की इच्छा करता है, पर उसकी कामनाको पूरा करने वाला यजमान कोई नहीं। साधारण यज्ञमें तीन पदार्थ होते हैं। यजमान, यज्ञकी चरु आदि सामग्री और होता। जगदीश्वरके महायज्ञमें वह तो होता है और शेष सब कुच्छ सामग्री। नहीं २, वह स्वयं भी अन्तमें उसी यज्ञ-वेदीमें अपना भी स्वाहा कर डालता है। अब यज्ञ हो चुका है। होताकी कामना व्यर्थ न जानी चाहिये। वही सामग्री जो भस्म हो चुकी है, द्रविण अर्थात् अर्थ बन कर उपस्थित हो जाती है। 'द्रविण' और 'अर्थ' इन दोनों शब्दोंका संबन्ध गतिवाचक धातुओंसे है। क्या सुन्दर संकेत है। भस्मीभूत लोकोंने द्रविणका रूप धारण किया। विधाताने इच्छाकी और मूल अव्यक्तमें गति पैदा हो गयी।

सत्य०—महाराज, यह खूब है। क्या आश्चर्यजनक वर्णन है। साधारण शब्दोंमें क्या अर्थ-राशि गुप्त कर रखी है।

महा०—अब एक और बात कहते हैं। प्रलयकी दशामें सब पदार्थ सूक्ष्म दशामें छिपे रहते हैं। मानो, परमात्मा उन्हें छिपाए रखते हैं। अब सृष्टि होनेपर, भगवान् जिन पदार्थोंको अपनी गोदमें से एक प्रकारसे बाहिर धकेलता है, स्वयं उनमें प्रवेश करता जाता है। पदार्थ खड़े होते जाते हैं। सबको दबाकर जो भगवान् बैठा हुआ था, वह भी खड़ा हो जाता है। प्रत्येक पदार्थके अन्दर वह रमा रहता है। दो तीन इशारोंसे कितना संक्षिप्त और कितना पूर्ण वर्णन एक ही मंत्रने कर दिया है, इसका, सज्जनो, विचार करो। अगले मन्त्रमें प्रसिद्ध जिज्ञासोत्पादक शैलीसे रचनाका वर्णन पाया जाता है।

(२) *किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।*
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ ३७॥
०—२॥

अर्थः—(किं-स्वित्) क्या (अधि-स्थानं) आश्रय (आसीत्) था, (कतमत्-स्वित्) कौनसा (कथा) कैसा (आ-रम्भणं) उपादान कारण (आसीत्) था, (यतः) जिससे (विश्वकर्मा) सर्जनहार (विश्व-चक्षाः) सर्वज्ञ प्रभु ने (भूमिं) भूमिको (जनयन्) पैदा करते हुए [साथ ही] (द्यां) द्युलोकको (महिना) महिमा द्वारा (वि-और्णोत्) प्रकाशित किया॥ ३७॥

अपने मनको स्थूल, दृश्यमान पदार्थोंसे हटाकर, सूक्ष्म, अदृष्ट प्रलयकालीन अवस्थाका चित्र सामने लानेका यत्न

करो। यह प्रभुकी महिमा है, जिससे यह सब कुच्छ इस प्रकार विना किसी अन्य सहायकके निर्माण होता है। उपादान कारण क्या था? इसका विचार करो। पर साथ ही उसके स्वरूपका भी ध्यान करना। वह स्वयं, प्रभुके निमित्तके विना कुच्छ भी न बन सकता था। इस लिये यह विश्व उस सर्वज्ञ, विधाताकी महिमाका ही बोधक है।

(३) *विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः* ॥३८॥
०—३॥

अर्थः—(द्यावा-भूमी) द्यु-लोक और भूमीको (जनयन्) रचते हुए (एकः) अद्वितीय (देवः) देव (बाहुभ्यां) दो भुजाओंसे [और] (पतत्रैः) पांवोंसे (सं धमति) खूब दबाता है। [उसके] (विश्वतः-चक्षुः) चारों ओर नेत्र [हैं] (विश्वतः-मुखः) चारों ओर मुख [हैं] (विश्वतः-बाहुः) चारों ओर भुजाएं [और] (विश्वतः-पात्) चारों ओर पांव [हैं] ॥ ३८ ॥

इस मन्त्रमें भगवान्‌की निःसीम शक्तियोंका सुन्दर, मानवी भाषामें वर्णन किया गया है। यथार्थमें न उसके नेत्र तथा मुखहो सकते हैं और न ही भुजाएं और न पांव। हमें नेत्रादि साधनोंकी अपेक्षा रहती है। हम इनके विना शरीर-यात्रामें सर्वथा अशक्त हो जाते हैं। ये हमारे बल हैं। परन्तु प्रभुमें इन बलोंका कोई परिमाण नहीं। उसकी शक्तियोंका कोई पारावार नहीं। हमें जो नेत्रादिसे बल प्राप्त होता है, वह बल प्रभुमें

स्वभावसे पाया जाता है। प्रभु सर्वत्र, एकरूप होकर विराजमान है। इस लिये; इसमें आश्चर्य ही क्या है, कि उसके असंख्य बल भी सर्वत्र, समानरूपसे मौजूद हैं। मानुष बलकी अपेक्षा अपरिमेय, असंख्यगुणा अधिक बलोंका वर्णन करनेके लिये ही चक्षु आदि शब्दोंका प्रयोग किया गया है। अन्यथा, मनुष्यके लिये बलके स्वरूपका चिन्तन करना भी अति कठिन होजाता है। परिचित बातोंसे ही माप, तोल कर अपरिचित बातोंका मान किया जाता है। यन्त्रों के बलको मापनेके लिये आज कल अंग्रेज़ी भाषामें जो मान प्रयुक्त होता है, उसे 'अश्व-बल' (Horse-power) कहते हैं। संस्कृत साहित्यमें अत्यधिक बलका संकेत करनेके लिये विशेष २ व्यक्तियोंके अन्दर सहस्र हाथियोंका बल बताते थे। मनुष्य इसी प्रकार मुक़ाबिला करकेही तारतम्यको ग्रहण करता है।

माया०—क्या इन्हीं वर्णनोंके आधार पर लोगोंने साकार ईश्वरकी कल्पनाकी है?

महा०—निःसन्देह इन वर्णनोंने मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको पुष्ट किया है। अव्यक्त, नीरूपका चिन्तन बड़ा कठिन होता है। इस लिये मनुष्योंने सर्वत्र अपने संतोषके लिये देवताओंकी अपने मानव-स्वरूपमें ही भावनाकी है। परन्तु यथार्थ ज्ञाता जानते हैं कि यह भ्रमात्मक, मिथ्या व्यवहार है। यह वैसेही बात होगी जैसे कल कोई निराकार बिजलीका चित्र एक जीती जागती स्त्रीके रूपमें बनाले। कुछ कालके लिये तो लोगोंको यह ज्ञान रहेगा कि यह केवल चित्र है, पर हो सकता है, एक ऐसी जनताके अन्दर, जहां बिजलीका व्यवहार नहीं है,

उसका एक अज्ञातशक्तिसे युक्त, देवीके रूपमें ही प्रचार होकर, उसकी पूजा चल पड़े।

सत्य०--क्या हमारे हां के देवी, देवताओंका भी ऐसा ही आरम्भ हुआ होगा ?

महा०—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, यदि ऐसा ही हुआ हो। वेदके इस प्रकारके वर्णन केवल मानव-बुद्धिको स्पष्ट समझानेके लिये ही हैं, इसमें इसी मन्त्रके उत्तरार्धसे आपको स्पष्ट प्रमाण मिल जावेगा।

वस्तु०—वह कैसे ?

महा०—पूर्वार्धमें असंख्य भुजाओंका वर्णन करके, उत्तरार्धमें केवल दो भुजाओंका संकेत किया है। मनुष्य केवल दोसे ही परिचित है। पर साथ ही अनन्त पांवोंका फिर संकेत करके जतला दिया गया है कि वास्तवमें न दो और न अनन्त भुजादि अंगोंका भाव यहां लेना होगा। इन शब्दोंसे शक्तियोंका अर्थ ही लेना उचित है। यही भाव भुजाओं और पांवोंसे दबाने और धकेलनेका लेना है। जब हम एक पदार्थको दबाना या धकेलना चाहते हैं, तो इन अंगोंका प्रयोग करते हैं। अब अव्यक्त प्रकृतिके परमाणु २ के अन्दर जो हलचल मची तो मनुष्यकी भाषामें यही वर्णन होगा कि उन्हें खूब दबाया गया और धकेला गया। गतिरूप कार्यसे प्रेरकशक्तिरूप कारणका अनुमान करके, उसे कविताका वेष पहना दिया गया है।

सत्य०—इससे भी उपादान कारण अलग प्रतीत होरहा है। प्रेरकसे प्रेरी जाने वाली वस्तु भिन्न ही होगी। आत्माश्रित

क्रिया कहीं नहीं पायी जाती । वही कर्त्ता और वही कर्म वास्तवमें नहीं हुआ करता ।

महा०—बिलकुल ठीक । इसी प्रकार विचारसे विचार उठता है । अब 'स्कम्भ' सूक्तके साथ लगे हुए सूक्तमेंसे कुछ मन्त्रों द्वारा जगत्के प्रेरक देवकी महिमाका विचार करते हैं । साथ २ कई और विचार भी होते रहेंगे ।

(४) यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३९॥ अथर्व० १० । ८ । १ ॥

अर्थः—(यः) जो (भूतं) भूत (च) और (भव्यं) भावी (च) तथा [और] (सर्वं) सबपर (अधि-तिष्ठति) शासन करता है; (च) और (यस्य) जिसका (केवलं) केवल [अधिकार] (स्वः) सुख तथा सुगति [पर है], (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ (ब्रह्मणे) ब्रह्मको (नमः) नमस्कार हो ॥ ३९ ॥

भूत और भावीका हमारे साथ भी संसर्ग है, परन्तु सदा अमिश्रित भावसे रहने वाला सुख केवल भगवान्‌की ही सम्पत्ति है । वही नित्य आनन्दका सरोवर है ।

(५) स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः । स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत्प्राणन्निमिषच्च यत् ॥४०॥ ०—२ ॥

अर्थः—(स्कम्भेन) स्कम्भ द्वारा (वि-स्तभिते) धारण किये हुए (इमे) ये (द्यौः) द्युलोक (च) और (भूमिः) भूमी (तिष्ठतः) स्थिरतासे युक्त होती हैं । (यत्) जो (प्राणत्) प्राणधारी (च) और (यत्) जो (नि-मिषत्) गति युक्त

[है] (इदं) यह (सर्वं) सब [प्रकारका जगत्) (स्कम्भेन) स्कम्भ द्वारा (आत्मन्-वत्) सजीव होरहा है ॥ ४० ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक तथा मध्यवर्तीलोकका मूलाधार स्कम्भ है। आकर्षणका नियामक भी वही है। जड़ तथा चेतन जगत्के जीवनका भी वही कारण है। दो प्रकारका जगत् कहा है। कुछ पदार्थ प्राण धारण करते हुए दिखाई देते हैं । उनमें जीवनके चिह्न चेष्टादिका पाया जाना स्वाभाविक है । परन्तु पर्वत, नदी आदि पदार्थ भी तो चुप नहीं बैठे हुए । उनमें भी तरह २ की गति तथा चेष्टा पायी जाती है । मत समझो कि उन्हें तो प्रभु गति प्रदान करता है और प्राणधारी स्वतन्त्ररूपसे अपना जीवन धारण कर रहे हैं । श्वास प्रश्वासकी क्रिया भी प्रभुकी महिमाके आश्रित है । इस प्रकार सर्वत्र उसी एक भगवान्का शासन अखण्डरूपसे चलता है।

(६) प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥४१॥

०—१३ ॥

अर्थः—(प्रजापतिः) प्रजापति (गर्भे) गर्भके (अन्तः) अन्दर (चरति) रहता है (अदृश्यमानः) न दिखाई देता हुआ (बहुधा) अनेक प्रकारसे (वि-जायते) प्रकट होता है। (अर्धेन) आधे [भाग] से (विश्वं) सकल (भुवनं) जगत्को (जजान) रचता है (यत्) जो (अस्य) इसका (अर्धं) आधा [रह जाता है] (सः) वह (कतमः) कौनसा (केतुः) चिह्न है ? ॥ ४१ ॥

ठीक है। परमाणु २ के अन्दर रमता हुआ ही स्रष्टा सब कुछ सृजता है। परम सूक्ष्म होनेसे सारी कलाको घुमाता हुआ भी दिखाई नहीं देता। हां, उसकी नानाप्रकारकी अनन्त विभूतियां ही उसका प्रकाश करती हैं। पर यह मत समझो कि इन विभूतियों द्वारा भगवान्की अद्भुत महिमाका अन्त पाया जा सकता है। यह सारा जगत् तो उसकी अपार मायाका एक भाग ही समझो। जो कुछ इसके आगे है, उसे जाननेका कोई साधन, कोई चिह्न हमारे पास नहीं है। और वह भाग है अनन्त। अतः उस परम देवकी महिमाको हम किसी प्रकार भी पूरा २ नहीं जान सकते। जिस प्रकार कुएंका मेंढक सागरसे अपरिचित रहता है। ऐसे ही हम अपनी अल्पज्ञताके कारण भगवान्के वैभवसे अपरिचित ही रहते हैं। पर जहां यह सत्य है, वहां यह भी सत्य है कि उस अमृतसागरसे एक आध बिन्दुकी प्राप्तिसे ही हमारा अनुत्तम कल्याण होसकता है।

(७) *यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति । तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ ४२ ॥* ०—१६ ॥

अर्थः—(यतः) जिससे (सूर्यः) सूर्य (उत्-एति) उदय होता है (च) और (यत्र) जिसमें (अस्तं) अस्तको (गच्छति) प्राप्त होजाता है, (तत्) उसे (एव) ही (अहं) मैं (ज्येष्ठ) सबसे बड़ा (मन्ये) मानता हूं (तत्) उससे (उ) निःसन्देह (किंचन) कुछ भी (अति-एति) बढ़कर (न) नहीं [है] ॥ ४२ ॥

वही जगदीश्वर लोक, लोकान्तरोंकी गतियोंका नियामक

होनेसे, सूर्य, चन्द्रादिके उदय और अस्त होनेका भी परम कारण वही है। यह बालक का कुतूहल नहीं, जिसे साधारण घटनाओंका सामान्य ज्ञान नहीं होता। यह कारणोंके परम कारणका विवेचन करने वाले, परमदर्शी भक्तोंका कुतूहल है।

(८) *पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥४३॥* ०—२६॥

अर्थः—(पूर्णात्) पूर्णसे (पूर्णं) पूर्ण (उत्-अचति) उत्पन्न होता है। (पूर्णं) पूर्ण (पूर्णेन) पूर्ण द्वारा (सिच्यते) विकसित होता है। (उतो) तो क्या (अद्य) आज (तत्) उसे [भी] (विद्याम) जान सकेंगे (यतः) जिससे (तत्) वह [पूर्ण] (परि–सिच्यते) सर्व प्रकारसे विकसित होता है? ॥ ४३ ॥

जगत्की वैज्ञानिक रचना आश्चर्यजनक है। पर इसमें वास्तविक आश्चर्य क्या है? पूर्ण भगवान्से अपूर्ण सृष्टिकी सम्भावना ही क्योंकर हो सकती है? वह इसे एक ही वार पूर्ण बनाकर फिर अन्धकारमें नहीं छोड़ देता है। साथ २ निरीक्षण करता हुआ, परम प्रयोजनकी सिद्धिका इसे साधन भी बनाता है। इसी उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये, इस पूर्ण जगत्का पुनः २ विकास होता रहता है। पर वह भगवान् स्वयं अपनी महिमासे ही परिपूर्ण है। उसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं। वह अनुपम और अद्वितीय है। यही अद्वैतका परम भाव है।

(९) *एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥४४॥* ०—३०॥

अर्थः—(एषा) यह (सनत्नी) सनातन (सनं) पूर्वसे (एव) ही (जाता) चली आरही है; (एषा) यह (पुराणी) पुरातन (सर्वं) सबको (परि-बभूव) घेरे हुए है । (मही) बड़ी (देवी) प्रकाशयुक्त (उषसः) उषाको (वि-भाती) प्रकाशित करने वाली [है]; (सा) वह (एकेन-एकेन) एक २ (मिषता) चेष्टायुक्त [पदार्थ] द्वारा (वि-चष्टे) प्रसिद्ध होती है ॥ ४४ ॥

उस परमदेवमें पुरुष और स्त्रीका कोई भेद नहीं। यह सब प्रकारके भेद शरीराश्रित होनेसे उसमें नहीं हो सकते। इसीलिये वह सदातन, एकरस और नित्य है। इसी लिये वह सर्वत्र व्यापक, सबको अपने अन्दर बसा रहा है। रात्रिकी समाप्तिपर प्रभातका उज्यारा उसीके प्रकाशका चमकारा समझो। एक २ पदार्थकी चेष्टा उसीकी प्रेरणासे होती है। वही सब संसारका रक्षक पिता और वही सबकी निर्मात्री माता है।

(१०) *अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्यारूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ४५ ॥* ०—३१ ॥

अर्थः—(वै) निश्चयरूपसे (आविः) रक्षक (नाम) प्रसिद्ध [है] (देवता) प्रकाशमान (ऋतेन) ऋतद्वारा (परीवृता) घिरी हुई (आस्ते) रहती है। (तस्याः) उसीके (रूपेण) रूपसे (इमे) ये (वृक्षाः) वृक्ष (हरिताः) हरे [और] (हरितस्रजः) हरीमालाओंसे युक्त [रहते हैं] ॥४५॥

वह परमदेव सबका रक्षक है। वह केन्द्र है और उसके ऋतकी रश्मियां चारों ओर उससे निकल रही हैं। हरे २

वृक्षोंपर मालाओंकी भान्ति हरी २ लताएं क्या शोभा देती हैं! यह भी उसी भगवान्‌की महिमाका बखान है।

(११) अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ४६ ॥ ०—३२॥

अर्थः—[मनुष्य] (अन्ति) समीप (सन्तं) रहने वाले [देव] को (न) नहीं (जहाति) छोड़ता [पर फिर भी] (अन्ति) समीप (सन्तं) रहते हुए भी (न) नहीं (पश्यति) देखता। (देवस्य) देवकी (काव्यं) बुद्धिमत्ताको (पश्य) देख (न) [उसमें] (ममार) मौत है [और] (न) (जीर्यति) बुढ़ापा [ही आता है] ॥ ४६ ॥

अन्तर्यामी होकर परमदेव मेरे और आपके अन्दर सदा मौजूद रहता है। पर हम कितने मन्दभाग्य हैं कि हमें उसके दर्शन नहीं होते। उसकेदर्शनका साधन उसकी बुद्धिको जगत्‌में पहचानना है। जब ध्यानपूर्वक देखो, इसका प्रकाश वैसाका वैसा पाओगे। यहां सदा बहार रहती है। मौत और मुरझानेका नाम तक नहीं। इस तत्त्वके परिचयसे युग, युगान्तरोंमें योगसिद्ध महाभाग भवसागरसे तरते चले आये हैं।

(१२) अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। वदन्ती-र्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ४७ ॥ ०—३३॥

अर्थः—(अपूर्वेण) अनादि प्रभु द्वारा (इषिताः) प्रेरी हुई (वाचः) वाणियां (ताः) सब प्रकारकी (यथायथं) ठीक ठीक (वदन्ति) अर्थको प्रकट करती हैं। (यत्र) जहां वे

(वदन्तीः) बोलती २ (गच्छन्ति) पहुंच जाती हैं (तत्) उसे (महत्) बड़ा (ब्राह्मणं) ब्राह्मण (आहुः) कहते हैं ॥४७॥

वाणीकी शक्ति भी क्या विलक्षण है, परन्तु इसकी प्रेरणा भी उसी मूल शक्तिसे ही होती है। इसे पाकर मनुष्य जगत्के सब व्यवहारको सिद्ध करता है। उसकी अन्तिम सिद्धि तब समझो, जब यह वाणी भगवान्की आराधना करती हुई वहां जा पहुंचे, जहां से आगे वर्णन करने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहता। वही परम गति है। वह ब्रह्मका परमधाम (ब्राह्मण) कहलाता है।

(१३) यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥४८॥ ०—३७

अर्थः—(यः) जो [उस] (वि-ततं) व्यापक (सूत्रं) सूत्रको (विद्यात्) जान ले (यस्मिन्) जिसमें (इमाः) ये (प्रजाः) प्रजाएं (ओताः) पिरोयी हुई हैं, (यः) जो (सूत्रस्य) सूत्रके (सूत्रं) सूत्रको (विद्यात्) जानले (सः) वह (महत्) परम (ब्राह्मणं) ब्रह्म-धामको (विद्यात्) जान ले ॥ ४८ ॥

इस मन्त्रमें जिज्ञासाके सारे विषयको एक ही 'सूत्र' शब्दको दो वार कहकर संग्रह कर दिया गया है। वस्तुतः विचार-शील पुरुषके ही मनमें सच्ची जिज्ञासा पैदा होती है। वह वैज्ञानिक तथा धार्मिक अनुभवसे सारे ब्रह्माण्डको विशेष नियमोंकी शृंखलामें पिरोया हुआ पाता है। यही व्यापक सूत्ररूपसे यहां वर्णन किया गया है। इसीको दूसरे मन्त्रोंमें 'ऋत' और 'सत्य' आदि शब्दोंसे कहा गया है। ज्योंही

अनुभवकी आंख इस सूत्र तक जा पहुंचती है, त्योंही वह उस परम-सूत्रकी तलाशमें फिर भटकने लगती है, जो इस सूत्रका भी आधार है । शनैः २ उचित साधनोंकी सिद्धिसे वह सूत्र दिखाई देने लग जाता है । ऐसा होते ही वह ब्रह्म-धामका आनन्द अनुभव करने लग जाता है ।

वस्तु०—महाराज, क्या यह धाम कोई विशेष स्थान है ?

महा०—नहीं, यह तो भगवान्के साक्षात् अनुभवसे जो नित्य, स्थिर सुखकी प्राप्ति होती है, उसीका ही नाम है । भगवान् सर्वव्यापक है । यह धाम भी सर्वव्यापक है । जहां सच्चा भक्त चाहे, वहीं अमृतपान करले । अब कुछ मन्त्र 'उच्छिष्ट' सूक्तसे सुनाकर आजकी कथा समाप्त करेंगे । यह अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका सातवां सूक्त है ।

सत्य०—महाराज, उच्छिष्ट तो उसे कहते हैं जो भोजन कर चुकनेपर थोड़ा बहुत बच रहता है ।

महा०—ठीक है, इस शब्दके अन्दर भाव यही पया जाता है । लोकमें भोजनके विषयमें इसका प्रयोग प्रसिद्ध है । परन्तु यहां वेदमें इसका तात्पर्य परमब्रह्म है ।

सत्य०—बड़े आश्चर्यकी बात है । अर्थ कहांसे कहां चला गया है ।

महा०—भाषाशास्त्री इस तत्त्वको भली भान्ति पहचानते हैं । प्रत्येक शब्दका बड़ा लम्बा इतिहास है । उसमें एक मौलिक अर्थ पाया जाता है । अब भिन्न २ प्रकरणोंमें सम्बन्धित हो जानेसे उस अर्थका कहीं विस्तार और कहीं संकोच होता चला जाता है । समय आता है, जब मौलिक अर्थ साधारण

लोगोंसे सर्वथा ओझल हो जाता है। पुरानी भाषाओंके शब्दोंके अर्थोंका जब झगड़ा होता है, भाषाशास्त्री उसी मौलिक अर्थकी खोजपर ध्यान जमाते हैं। उसे धात्वर्थ या यौगिक अर्थ भी कहते हैं। वर्तमान प्रकरणमें उस पदार्थका वर्णन किया जावेगा, जो सारे ब्रह्माण्डको अपने अन्दर लीन कर लेता है, पर स्वयं किसीमें लीन नहीं होता। वह परमदेव है। सब पदार्थोंकी उत्पत्ति उससे हो लेती है, पर उसकी अपनी उत्पत्तिका कोई और कारण नहीं बन सकता। शेष सब कुछ उससे प्रकट होता और उसीमें लीन हो जाता है। पर वह स्वयं सदा एकरस बचा रहनेसे उच्छिष्ट कहलाता है।

(१४) उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥४१॥ अथर्व० ११।७।१॥

अर्थः—(उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (नाम) (च) और (रूपं) रूप [धारणहोते हैं]; (उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (लोकः) लोक (आहितः) धारण होता है। (उच्छिष्टे) उच्छिष्ट में (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (अग्निः) अग्नि [धारण होते हैं;] (विश्वं) सब कुछ [उसीके] (अन्तः) अन्दर (सम्-आ-हितम्) भली प्रकार धारण होता है ॥ ४१ ॥

सामान्यरूपसे सारा जगत् नाम और रूपके दो शब्दोंसे वर्णित हो जाता है। जितने पदार्थोंका वर्णन हो सकता है, उन्हें 'रूप' कहते हैं। जिन शब्दोंसे वह वर्णन होता है, उन्हें 'नाम' कहते हैं। केवल ईश्वर ही नाम और रूपके बन्धनसे बाहिर है। इसी हेतुसे वह इन्हें अपने अन्दर धारण कर सकता

है। जितने लोकान्तर हैं, सब उसीमें हैं। इन्द्र मध्यलोककी वायु अथवा बिजली भौतिक विभूतिका वाचक है। अग्नि पृथिवीलोकका भौतिक प्रकाश है। इनका परमाधार भी उच्छिष्ट है। अधिक क्या कहें, सारा विश्व उसीके अन्दर स्थितिको पाता है॥

(१५) उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् । आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥५०॥ ०—२॥

अर्थः—(उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक [धारण होते हैं], [उसीमें] (विश्वं) सकल (भूतं) पदार्थ-समुदाय (सम्-आ-हितम्) सुस्थापित है। (उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (आपः) जल (समुद्रः) समुद्र (चन्द्रमाः) [और] (वातः) वायु (आहितः) [प्रत्येक] धारण होता है॥ ५०॥

(१६) ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥५१॥ ०—१७॥

अर्थः—(ऋतं) ऋत (सत्यं) सत्य (तपः) तप (राष्ट्रं) राज्य (श्रमः) पुरुषार्थ (धर्मः) धर्म (च) और (कर्म) (च) तथा (भूतं) जो हो चुका [और] (भविष्यत्) जो होना है [और] (वीर्यं) वीर्य (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (बलं) बल (बले) सब बलोंके बल (उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें [धारण होते हैं]॥५१॥

वही इनका मूल स्रोत है। उसीके आश्रयसे तथा उसीकी बांधी हुई मर्यादाओंके पालनसे इनकी प्राप्ति तथा वृद्धि होती है।

(१७) अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह। उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ ५२ ॥ ०—२० ॥

अर्थः—(उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (अर्धमासाः) [शुक्ल और कृष्ण] पक्ष (मासाः) महीने (आर्तवाः) ऋतुओंके प्रभाव तथा विभाग (ऋतुभिः) ऋतुओंके (सह) साथ (च) तथा (घोषिणीः) शब्द करते हुए (आपः) जल (स्तनयित्नुः) गरजता हुआ बादल [तथा] (मही) पूजनीय (श्रुतिः) सरस्वती, वेदविद्या [धारण होते हैं] ॥ ५२ ॥

सब पदार्थोंका परम धाम वही है। सब कारणोंका परम कारण वही है। सब शब्दोंका वाच्य वही है। गड़गड़ाते हुए, पर्वतीय झरने उसीका आवाहन करते हैं। गरजते हुए बादल उधर ही ध्यान दिलाते हैं। पशुओं और पक्षियोंके नाना प्रकारके शब्द उसीका गान करते हैं। सरस्वती अर्थात् सर्वोत्तम वेद विद्या उसीका परम तात्पर्यके भावसे बखान करती है।

(१८) शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा। अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ ५३ ॥ ०—२१ ॥

अर्थः—(शर्करा) कंकर (सिकताः) बालु (अश्मानः) पत्थर (ओषधयः) ओषधियां (वीरुधः) लताएं (तृणा) घास (अभ्राणि) मेघ (विद्युतः) बिजलियां (वर्षं) वृष्टि [ये सब] (उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (संश्रिता) आश्रित होते हुए (श्रिता) धारण हो रहे हैं ॥ ५३ ॥

(१९) *राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः। अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ ५४ ॥* ०—२२॥

अर्थः—(राद्धिः) सफलता (प्राप्तिः प्राप्ति (समाप्तिः) पूर्ण प्राप्ति (व्याप्तिः) विस्तृत प्राप्ति (महः) आनन्द (एधतुः) वृद्धि (अति आप्तिः) बढ़ चढ़ कर प्राप्ति (च) और (भूतिः) ऐश्वर्य [प्रत्येक] (उच्छिष्टे) उच्छिष्टमें (आहिता) सर्व प्रकारसे धारण होता है। (निहिता) सुरक्षित होता हुआ (हिता) धारण होता है ॥ ५४ ॥

सर्व प्रकारकी कामनाओंकी पूर्ति ऋत और सत्यको समझने, उन्हें धारण करने और भगवान्के कृपापात्र बननेसे ही होती है। वह कौनसी सम्पत्ति है, जो भगवान्के भक्तोंको प्राप्त नहीं हो जाती ?

(२०) *यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ ५५ ॥* ०—२३॥

अर्थः—(यत्) जो (प्राणेन) प्राण द्वारा (प्राणति) प्राण धारण करता है (च) और (यत्) जो (चक्षुषा) नेत्र द्वारा (पश्यति) देखता है [वह सब उच्छिष्टमें धारण होता है]। (उच्छिष्टात्) उच्छिष्टसे (सर्वे) सब (दिवि) द्युलोकमें (दिविश्रितः) प्रकाशयुक्त (देवाः) देवता (जज्ञिरे) पैदा हुए ॥ ५५ ॥

जड़ चेतन भेदसे दो प्रकारका जगत् भिन्न २ प्रकारसे हमें प्रभावित करता है। नेत्रादि इन्द्रियोंके व्यवहारसे चेतनकी ओर और प्रकाश, तेज, बलादिसे जड़की ओर हम आकर्षित होते

हैं । दोनों जगतोंका यह बल उच्छिष्टके आधारसे ही समझना चाहिये । उसीकी प्रेरणासे हमें शरीर तथा इन्द्रियादिकी शक्तियां प्राप्त हो रही हैं । उसीकी शक्तिसे सूर्यादि देवता प्रकाशके पुंज बन रहे हैं ।

(२१) *आनन्दा मोदाः प्रमुदोभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ ५६ ॥* ०—२६ ॥

अर्थः—(आनन्दाः) आनन्द (मोदाः) हर्ष (प्रमुदः) विशेष प्रसन्नताएं (च) और (ये) जो (अभीमोद-मुदः) आनन्द-साधनोंकी उपस्थितिसे आनन्द अनुभव करने वाले हैं [वे] (सर्वे) सब (दिवि) द्युलोक अथवा प्रकाशमें (दिविश्रितः) पूर्व प्रकाश युक्त (देवाः) देवता (उच्छिष्टात्) उच्छिष्टसे (जज्ञिरे) प्रकट हुए ॥ ५६ ॥

न केवल भोग्य पदार्थोंका प्रकट करने वाला भगवान् है, वरन् भोक्ता भी उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं । वही सब प्रकारके आनन्दों और सुखोंके साधनोंका उपस्थित करने वाला है । वही कर्मानुसार अपने भक्तोंमें उनका प्रविभाग करने वाला है । इस प्रकार, सज्जनो, वेदके पवित्र मन्त्र बड़े बलके साथ जिज्ञासा पैदा करते हुए, उसकी पूर्त्तिके सर्वोत्तम मार्गका भी प्रदर्शन कराते हैं ।

सत्य०—क्या महाराज, आज यहीं तक चलेगा ।

महा०—बहुत पर्याप्त कहा गया । अब कल आपके सामने प्रसिद्ध ' पुरुषसूक्त 'का व्याख्यान करूंगा ।

——:०:——

द्वादश खण्ड ।

विश्व-यज्ञका वर्णन ।

महा०—सत्यकाम, आज कुछ नये सत्संगी भी दिखाई देते हैं ?

सत्य०—महाराज, इनसे बातचीत तो पूर्व भी कई वार हुई थी। पर आप जानते हैं, इधर प्रवृत्ति शनैः २ ही होती है। कल मैंने और वस्तुस्वरूपने बहुत प्रेरणाकी थी।

वस्तु०—महाराज, आपकी अपनी मधुर वाणीका ही यह आकर्षण है। तो आज आप 'पुरुष-सूक्त'की चर्चा चलाएंगे ! क्या इसके अन्दर पुरुषोंका वर्णन है ?

महा०—नहीं, परम पुरुष परमात्माका ही इसमें यज्ञके रूपमें वर्णन पाया जाता है।

उप०—महाराज, यज्ञोंमें तो बड़ी हिंसा होती थी। दयावतार भगवान् बुद्धने इनके विरुद्ध प्रचार किया था।

महा०—यह ठीक है। पर यज्ञका मौलिक भाव दूसरेके लिये अपने आपको कष्ट देना था। अपना स्वार्थ छोड़ कर, अपनी प्रिय प्रवृत्तियोंका त्याग करना, अपनी सम्पतिका दूसरोंको दायाद बनाना और यदि आवश्यकता पड़े, तो अपनी सत्ता मिटाकर भी दूसरोंकी रक्षा करना यज्ञका असली स्वरूप था। इसी असली यज्ञका विस्तार भगवान् स्वयं कर रहे हैं। आपने पीछे 'विश्वकर्मा'के सूक्तकी व्याख्यामें इसी बातकी ओर संकेत पाया था। उसमें यह बताया गया था, कि

सारे पदार्थोंकी सामग्रीको होमनेके पीछे, जगद्–होता फिर स्वयं भी वेदीमें बैठ जाता है। यह प्रलयका वर्णन था। आजके सूक्तमें 'विश्व–यज्ञ'का बड़े विस्तारसे वर्णन पाया जाता है। जहां उस सूक्तमें यज्ञके संहार-कारक स्वरूपको प्रकट किया गया है, वहां इसमें उसकी जनन-शक्तिका प्रकाश पाया जाता है। यज्ञके दोनों ही स्वरूप सच्चे और परस्पर संबंधित हैं। जब तक पदार्थोंके वर्तमान स्वरूपमें परिवर्त्तन न हो, नये पदार्थ पैदा नहीं हो सकते। समिधा, घृतादि हवनमें डाले जाते हैं। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें वे भस्म होकर नष्ट हो जाते हैं। तत्त्वज्ञानी उनसे उत्पन्न होने वाली नयी वस्तुओंका विचार करता है। वास्तवमें संसार अनादि कालसे जितना अब है, इतना ही चला आया है। न रत्ती भरका नाश हो सकता है और न कुछ नया बन सकता है। भावका अभाव और अभावका भाव असंभव समझा जाता है। तो फिर होता क्या है? बस, दिन रात परिवर्त्तन २ होता चला जाता है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण नये २ रूपको धारण करता रहता है। यह है महाविशाल, विश्व-यज्ञ, जो एक साथ नाश और प्रादुर्भावका द्वार होनेसे इस सगरे परिवर्त्तनका मूल कारण है। भगवान् परमाणु २ में व्याप रहा है। और उससे भिन्न रहता है। उसपर इस परिवर्तन और विकासका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तटस्थ रह कर, इस यज्ञ-चक्रको घुमाता है। परन्तु हम जब भी उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तो इस चक्रके द्वारा ही होते हैं। हमारे लिये उसका ध्यान करना भी असंभव हो जावे, यदि संसारके रचन, धारण और संहारका द्वार हमारे

सामनेसे बन्द हो जावे। जब इस दृष्टिसे विचार करते हैं, तो हम जगदीश्वरको अपरिवर्त्तित रहते हुए भी, सब परिवर्त्तनोंमें पाते हैं। सारा विश्व उसीका प्रकाश है। ब्रह्माण्ड उसके शरीरके समान है। वह इसके एक २ भागमें परिपूर्ण होनेसे पुरुष कहलाता है। यही भगवानका विराट् स्वरूप है। जहां देखो, वह मौजूद है। वही सबकी जान है, वही सबका आधार है। वही निःस्वार्थ भावसे, इस यज्ञको रचाता है। मानो, वह स्वयं अपने आपको यज्ञका रूप देकर इस जगत्का प्रकाश कर रहा है। सच पूछो, तो ईश्वरके ही इस स्वरूपके आधारपर यज्ञ शब्दका अर्थ ठीक २ जाना जाता है। असली यज्ञ वही स्वयं है। शेष जितने यज्ञ हैं, वे अनुकरणमात्र हैं। इस सूक्तमें ईश्वरके ये दोनों स्वरूप अर्थात् तटस्थ तथा सम्बद्धभाव वर्णन किये गये हैं।

(१) सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥५७॥ ऋक्० १०। ९०। १।

अर्थः—(पुरुषः) पुरुष (सहस्रशीर्षा) अनन्त सिरों वाला (सहस्राक्षः) अनन्त नेत्रों वाला [और] (सहस्रपात्) अनन्त पांवों वाला [है]। (स) वह (विश्वतः) सब ओरसे (भूमिं) ब्रह्माण्डको (वृत्वा) ढांपकर [भी] (दशाङ्गुलम्) दस अंगुल (अति) बढ़कर (अतिष्ठत्) विराजता है ॥५७॥

यद्यपि उस अनादि, नित्य, निर्गुण भगवान्का कोई शरीर अथवा नेत्रादि अंग नहीं, तो भी देहधारी प्राणियोंके अन्दर व्यापक होनेसे, उनके अंग, मानो, उसके अंग होरहे हैं। सहस्रसे

तात्पर्य हज़ार नहीं, वरन्, अनन्त है। विशेष संख्याकी ओर संकेत नहीं है। नहीं तो, नेत्र और पांव कमसे कम दो २ हज़ार कहे होते। इस प्रकार सब प्राणियोंके अन्तर्यामीके रूपमें वर्णन करके, अब बाहिरसे उसके अनन्त, विभु भावको बड़ी सुन्दरतासे दिखाते हैं। वह परम पुरुष भूमिको सब ओरसे ढांपकर अपने अन्दर धारण करता है। भूमी केवल इस पृथिवीका यहां वाचक नहीं है। यहां इससे वही भाव ग्रहण करना चाहिये, जो 'अघ-मर्षण' सूक्तमें 'संवत्सर' शब्दसे किया था। यह ब्रह्माण्ड बड़ा विशाल है, परन्तु प्रभु इससे भी दस अंगुल बढ़कर हैं। वास्तवमें प्रभुका कोई माप नहीं है। दस अंगुलसे पांच इंचका ग्रहण नहीं करना। यह तो केवल संकेत है कि यह विशाल संसार उस अनन्त, विभु जगदीश्वरकी सीमा बांधनेमें असमर्थ है।

(२) *पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥५८॥* ०—२॥

अर्थः—(यत्) जो (भूतं) हो चुका (च) और (भाव्यं) होगा (इदं) यह (सर्वं) सब (पुरुषः) पुरुष (एव) ही [का चमत्कार है]। (उत) और (यत्) जो (अन्नेन) भोग्यमात्रकी अपेक्षा (अति-रोहति) बढ़ चढ़कर है [उस] (अमृतत्वस्य) अमृतपदका [भी वही] (ईशानः) स्वामी है ॥ ५८ ॥

यह संसार प्रवाह रूपसे अनादि कहा जा चुका है। असंख्यवार इसका सर्ग होचुका है और असंख्य ही वार आगे होगा। ये सब सर्ग और प्रलय परम पुरुषके ही अधीन हैं।

नाना प्रकारकी अद्‌भुत, आश्चर्यजनक रचना उसीकी अनन्त बुद्धिका प्रकाश है। सुन्दर रचनाको देखकर साधन-सामग्रीका ध्यान सर्वथा गौण होजाता है। कारीगरकी ही प्रशंसा मुख्य होती है। हमारे सामने, मानो, वह वस्तु नहीं रहती, वरन् कारीगर ही खड़ा होता है। इसी भावको यहां ग्रहण करते हुए, हम कह सकते हैं कि भूत, वर्तमान तथा भविष्य, जो कुछ है, वह पुरुष ही है। अर्थात् उसकी कारीगरीका ही नमूना है। जहां देखें, वही प्रकाशमान होरहा है। सर्वत्र उसीकी ज्योति जगमगा रही है। परन्तु उसका शासन उस 'परम पद' पर भी है, जिसे योगी जन 'अमृतधाम' कहते हैं। ये सब भोग्य पदार्थ हमारे कर्मोंके अनुसार विधाता बांटता रहता है। ये कितने ही चिरस्थायी क्यों न हों, कभी न कभी इनका अन्त अवश्य होगा। इनमें कितना ही सुख क्यों न हो, कभी न कभी दुःख भी अवश्य होगा। इन्हें 'अन्न'के शब्दसे वर्णन करके वेदने इनके अन्दर वास्तविक तृप्तिका अभाव दर्शाया है। प्राणी नित्य अन्नका सेवन करते हुए, अतृप्त ही रहते हैं। सदा कामना बनी रहती है। विवेकी जन उस 'पद'की साधनामें तत्पर रहते हैं, जहां पहुंचकर पूर्ण तृप्ति होजाती है। दुःख, मोह और शोक सदाके लिये भाग जाते हैं। उस अदीनता और अशोकताके परमधाम, अमृतपदका प्रदान करना परम पुरुषके अधिकारमें है। जो जन उसकी कृपाके पात्र बनते हैं, उन्हें अवश्य यह अनुपम प्रसाद मिलता है।

(३) *एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥५९॥* ०—३ ॥

अर्थः—(अस्य) इसकी (एतावान्) इतनी (महिमा) [है] (अतः) इससे (ज्यायान्) बड़ा (च) और (पुरुषः) पुरुष [है]। (विश्वा) सब (भूतानि) भूत (अस्य) इसका (पादः) चौथा भाग [है, तो] (त्रिपात्) तीन भाग (अस्य) इसके (दिवि) प्रकाशमें (अमृतं) विनाश रहित हैं ॥ ५९ ॥

पर यह कोई न समझे कि तीनों कालोंमें होने वाले संसारका अधिष्ठाता कहनेसे परम पुरुषका सारा स्वरूप कह दिया गया। यह तो केवल प्रदर्शनमात्र है। जितनी महिमा इस प्रकार कही जा सकती है, उससे कई गुणा अधिक उसका वह स्वरूप है, जो अपने प्रकाशमें अविनाशी रहता है। उसका हमें कोई परिचय नहीं होता। वह जाने हुए स्वरूपसे तीन गुणा ही न समझना। यह संख्या भी केवल संकेत है। इसका भाव यह है कि प्रभुकी अज्ञात महिमाकी अपेक्षा ज्ञात महिमा अत्यल्प है। यह ठीक है, सागरके किनारेपर बैठा हुआ बालक उसके खारीपनका कुछ परिचय प्राप्त करता है। परन्तु उसके लिये यह अनुमान करना असंभव है कि यदि सारे, विशाल, सागरोंका लवण इकट्ठा किया जा सके, तो वह कितना होगा। भगवान्‌की महिमाके ज्ञानमें हम अल्पज्ञोंकी स्थिति उस बालकसे किसी भी बातमें अच्छी नहीं। भगवान्‌का अपना कूटस्थ, नित्यस्वरूप अपनी सत्यमयी, ज्ञानमयी, अनन्त महिमामें सदा गुप्त रहता है। मानव बुद्धिकी अपेक्षासे भागों तथा परिमाणकी कल्पना कीगई है। वास्तवमें अखण्ड ब्रह्मके भागादि नहीं हो सकते।

(४) *त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥६०॥* ०—४ ॥

अर्थः—(त्रि-पात्) तीन भाग (पुरुषः) पुरुष (ऊर्ध्वः) ऊपर (उत्-ऐत्) उठा। (अस्य) इसका (पादः) एक भाग (पुनः) वार २ (इह) यहां (अभवत्) प्रकट हुआ । (तत्) उससे [ही पुरुष] (साशनानशने) भोजन करने वाले और न करने वाले जितने दो प्रकारके पदार्थ हैं, उनके (अभि) संबन्धमें (विष्वङ्) सर्वत्र (वि-अक्रामत्) व्याप्त होगया ॥६०॥

पिछले मन्त्रके वर्णनका ही आश्रय लेते हुए, इस मन्त्रद्वारा अब जगत्के सर्गका संकेत करते हैं । यह ठीक है कि अनन्त ब्रह्म तटस्थ रहता है और हमें उसका किसी प्रकार भी पूरा परिचय नहीं हो सकता, पर जितना परिचय इस संसारके संबंध द्वारा हो रहा है, उसे भी कम मत समझो। वह परमपुरुष अपनी असीम शक्तिके एक भाग द्वारा ही इस चक्रको निरन्तर चला रहा है । वार २ सृष्टि और प्रलयका पर्याय बदलता चला जाता है । ज्योंही सृष्टिका पर्याय आता है, भगवान् अपने अभिधानसे परमाणु २ में गति पैदा करके, जो कुछ रचना होनी होती है, उसके निमित्तसे सर्वत्र व्यापक होकर, जड़ चेतनके भेदसे इस प्रपञ्चका विस्तार कर देता है। भोजन करने वाले और न करने वाले पदार्थ इसी भेदपर विभक्त हो जाते हैं । मंत्रका भाव यह है कि परमदेव परमाणु २में व्यापक होते हुए, पहिलेसे ही इस दो प्रकारके जगत्का विचार करके कलाको घुमाते हैं ।

(५) *तस्माद् विराडजायत विराजो अधि पूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥६१॥* ०—५ ॥

अर्थः—(तस्माद्) उस [एक-भाग पुरुष] से (वि-राट्) विराजमान [स्थूल जगत्का आरम्भिक] स्वरूप (अजायत) प्रकट हुआ। (विराजः) विराट्से (अधि) आगे (पुरुषः) पुरुष [प्रकट हुआ]। (सः) वह (जातः) प्रकट होता हुआ (अति-अरिच्यत) और बच रहा [इससे उसने] (पश्चात्) फिर (भूमिं) भूमीको (अथो) और फिर (पुरः) [देहरूपी] नगरीको [रचा] ॥ ६१ ॥

कलाके घूमते ही, 'अव्यक्त' में उथल पुथल हो पड़ी। संघर्षसे प्रकाश पैदा हुआ। जगत्की उस मौलिक विराजमान अवस्थाको ही 'विराट्'का शब्द प्रकट करता है। उस प्रचण्ड प्रदीप्त दशासे वही एक भाग पुरुष कैसे प्रकट हुआ? उसीकी प्रेरणासे विराट्का प्रकाश हुआ और विराट्से उसका स्वयं प्रकाश हुआ? तनिक सोचो और रहस्य खुल जावेगा। पूर्व कह चुके हैं कि तीन-भाग पुरुष अपने तटस्थ, शाश्वत स्वरूपमें संसार-मायासे, मानो, असंस्पृष्ट रहता है। इसका हमारे लिये फल क्या होता है? हमें उसका कोई परिचय किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अब यदि एक-भाग भी वैसे ही रहता, तो हमें सर्वथा ही उसका अपरिचय रहता। इस लिये संसार-कलाके घूमने और उससे व्यक्तके आविर्भूत होनेका, मानो, यह फल है कि वह एक-भाग पुरुष हमें दृष्टिगोचर होने लगता है। एक दूसरा भाव और भी हो सकता है। विराट् जड़ जगत्की मौलिक दशाका नाम है। उसके प्रादुर्भूत होने पर, उसका जो उत्तरोत्तर विकास हुआ, वह जीवन-सत्तासे शून्य न था। एक-भाग पुरुषने कला घुमायी

और ज्योंही ' व्यक्त 'का प्रकाश हुआ, वह स्वयं उसके अन्दर जीवन-स्रोतके रूपमें प्रविष्ट हुआ। उसीके प्रवेशका यह फल था कि क्रम-बद्ध विकास होता २ यह अद्भुत, विशाल संसार प्रकट हुआ। तो क्या इतना कार्य करनेपर ही उस एक-भाग पुरुषकी महिमा समाप्त हो गयी? नहीं, यह बात नहीं। उसीकी शक्तिसे लोक, लोकान्तरोंकी उत्पत्ति होकर, चेतनतत्त्वोंके आश्रय शरीररूपी नगरीका विकास हुआ। इस प्रकार पिछले मन्त्रमें जो जड़, चेतन भेदसे दो प्रकारके जगत्के विकासका संकेत किया गया था, उसीका इसमें विस्तार करके, सृष्टिके विषयका सम्पूर्ण संग्रहसा कर दिया गया है। उसी परम-पुरुषकी यह महिमा जानो, जो मौलिक गतिसे परमाणुओंका व्यक्त परिणाम होते २, इस आश्चर्यमय, विस्मयजनक, अद्भुत, चित्र, विचित्र, सुन्दर, मनोहर, विशाल, असीम संसारका नियमबद्ध, उत्तरोत्तर विकास होता है। इस संसारसे उस पुरुषका प्रकाश भी होता अवश्य है। पर कितना? यदि वह अथाह सागर है, तो यह प्रपंच उसके सामने एक तुच्छ बिन्दुके समान है।

(६) *यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो अस्यासी-दाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६२॥* ०—६॥

अर्थः—(यत्) जब (देवाः) देवताओंने (पुरुषेण) पुरुषरूप (हविषा) होमने योग्य पदार्थद्वारा (यज्ञं) यज्ञका (अतन्वत) विस्तार किया [तो] (अस्य) इसके [अन्दर] (वसन्तः) वसन्त (आज्यं) घृत (ग्रीष्मः) गरमी (इध्मः)

काष्ठ [और] (शरत्) शरद् ऋतु (हविः) सामग्री, भातादि (असीत्) बनी ॥ ६२ ॥

अब तक सामान्य महिमाके रूपमें परमपुरुषका संसारके साथ सम्बन्ध और असंबंध वर्णन किया गया है। अब पूर्व कहे प्रकारसे यज्ञके रूपमें वर्णन होता है। इस ब्रह्माण्ड-यज्ञमें सबसे मुख्य निमित्त वह जगदीश्वर है। विश्वके विस्तारके लिये, मानो, वह अपने स्वरूपको इसके अन्दर लीन कर देता है। यही यज्ञका परम तत्त्व है। वह स्वयं हवि बनकर अव्यक्तका होम कर देता है और व्यक्तके नये रूपको धारण कर लेता है। काल दूसरा निमित्त है। इसके भेदसे, युगयुगान्तरमें परिणाम होते २, उत्तरोत्तर विकास होता चला आता है। वसन्त आदि शब्दोंसे कालके भागोंका तथा उनमें पैदा होने वाले पदार्थोंका ग्रहण होता है। पुरुष, काल और कालोंमें होने वाली साधन सामग्रीके परस्पर प्रेरक, प्रेरित सम्बन्धसे विश्व-यज्ञका विस्तार होता है।

(७) *तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥६३॥* ०—७ ॥

[उन देवताओंने] (तं) उस (अग्रतः) पूर्वसे (जातं) विद्यमान (यज्ञं) यज्ञके परमसाधक (पुरुषं) पुरुषका (बर्हिषि) यज्ञमें (प्र-औक्षन्) भली भान्ति संस्कार किया। (तेन) उसके द्वारा (देवाः) देवताओं (साध्याः) साधकों (च) और (ये) जो (ऋषयः) ऋषि [थे, उन्होंने] (अयजन्त) यजन किया ॥ ६३ ॥

परम पुरुष अनादिकालसे विश्व-यज्ञका विस्तार कर रहा है। परन्तु यह बात सब तो नहीं जानते। ज्ञानके लिये कोई २ महामना धीर पुरुष, सच्चे साधक बनकर, देवता और ऋषिकी पदवीके योग्य होकर, मानस-यज्ञको रचाते हैं। अन्तःकरणकी वेदीमें विचार और अनुभवकी आहुतियोंसे ब्रह्म-ज्ञानको प्राप्त होकर, आदि-देवको, मानो, सुसंस्कृत स्वरूपमें अनुभव करते हैं। उसीकी पूर्ण प्राप्तिके लिये, एक वार मार्गपर पड़कर, दिन रात उसी आध्यात्मिक यजनमें लगे रहते हैं। जिन्हें यह रसास्वादन प्राप्त होने लगता है, उनकी फिर कहीं और प्रवृत्ति होती ही नहीं। उस आन्तरिक यज्ञसे वे अन्दरकी तृप्तिको धारण करते हैं, और बाहिर हो रहे, विश्व-यज्ञसे सारे संसारके पदार्थोंको विकसित होता हुआ प्रत्यक्ष देखते हैं।

(८) *तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥६४॥* ०—८ ॥

अर्थः—(तस्मात्) उस (सर्व-हुतः) सबको होमने वाले [पुरुष] के (यज्ञात्) विश्व-यज्ञसे (पृषत्-आज्यं) [जीवनका पोषक] दूध, घी (संभृतं) उत्पन्न हुआ। [उसी पुरुषने] (तान्) प्रसिद्ध (वायव्यान्) वायुमें विचरने वाले [तथा] (आरण्यान्) जंगली (च) और (ये) जो (ग्राम्याः) पालतू [हैं, उन] (पशून्) पशुओंको (चक्रे) बनाया ॥६४॥

(९) *तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥६५॥* ०—९ ॥

अर्थः—(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सबको होमने वाले [परम-पुरुषके रचाये] (यज्ञात्) यज्ञसे (ऋचः) ऋचाएं (सामानि) साम (जज्ञिरे) प्रकट हुए। (तस्मात्) उसीसे (छन्दांसि) छन्द [प्रकट हुए] (तस्मात्) उसीसे (यजुः) यजु (अजायत) प्रकट हुआ॥ ६५॥

यह प्रभुके रचाये हुए यज्ञका ही प्रसाद है, जो दिव्य ज्ञानके रूपमें, साक्षात्कारी ऋषियोंके हृदयोंमें उदय होता है। यह इन ऋषियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका परिणाम होता है कि किसीको ऋचाओंका, किसीको सामोंका, किसीको यजुका और किसीको सामान्य छन्दोंका प्रत्यक्ष होता है।

सत्य०—महाराज, अथर्वका कोई संकेत नहीं आया।

महा०—प्यारे, यह बात नहीं है। अथर्वके मन्त्र भी आर्ष प्रतिभाकी ज्योति हैं। वास्तवमें ऋचादि शब्दोंसे ऋग्वेदादि ग्रन्थोंके ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। ऋचा उस स्तोत्रको कहते हैं, जिससे देवताके स्वरूपका प्रकाश होता है। साम उस गीतिको कहते हैं, जो उसकी उपासनामें प्रवृत्त करती है। यजु उस निर्देशका नाम है, जो कर्मकाण्डमें व्यवहारके योग्य होता है। ऋग्वेदमें ऋचाओंकी प्रधानता है। सामवेद और यजुर्वेदमें क्रमसे साम और यजु प्रधान हैं। अथर्वमें ये सब प्रकार मिश्रित हैं। इनके अतिरिक्त और भी विज्ञान भरा पड़ा है। इनके नाम लेनेसे ही उसका ग्रहण हो जाता है। अथवा, छन्दोंके सामान्य ग्रहणसे शेष सभी आर्ष-ज्ञान, विज्ञानका ग्रहण किया जा सकता है।

(१०) *तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥६६॥* ०—१० ॥

अर्थः—(तस्मात्) उसी [यज्ञसे] (अश्वाः) घोड़े (अजायन्त) पैदा हुए (च) और (ये के) जितने (उभय-दतः) ऊपर नीचे दान्तों वाले [पशु] हैं। (तस्मात्) उसीसे (ह) ही (गावः) गौएं (तस्मात्) उसीसे (अजावयः) भेड़ बकरी (जाताः) पैदा हुए ॥६६॥

(११) *यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥६७॥* ०—११ ॥

अर्थः—(यत्) जब [ऋषियोंने मानस-यज्ञमें संकल्पद्वारा होमे हुए पुरुषसे] (पुरुषं) मनुष्यको (वि-आदधुः) बनाया [अर्थात् उस यज्ञसे मानव-समाजको प्रकट होते हुए देखा, तो] (कतिधा) कितने प्रकारसे [उन्होंने] (वि-अकल्पयन्) विभाग किया ? (अस्य) (इस होमे हुए विराट्-पुरुष) का (मुखं) मुख (किम्) किस रूपमें (आसीत्) प्रकट हुआ ? (बाहू) भुजाओं (ऊरू) जंघाओं (पादौ) पांवोंके (कौ) क्या २ (उच्येते) नाम बने ? ॥ ६७ ॥

अब ऋषियोंने मानव-समाजके विकासका ध्यान किया। ओषधियों, वनस्पतियों, पशुओं और पक्षियोंकी सृष्टिका परम पुरुषसे उदय हुआ। इसी प्रकार उन्होंने विराट्-स्वरूप परमात्माको मानव-समाजके एक २ व्यक्तिके अन्दर प्रकाशमान होते हुए प्रत्यक्ष किया। उनकी ध्यान-दृष्टिके सामने, मानो, मानव-समाज एक समष्टि-देहके रूपमें खड़ा हो रहा था। परम पुरुष उसके

अन्दर व्याप रहा था। उसीका वह शरीर सा बन रहा था। अब उसके टुकड़े होने लगे। यहांपर, फिर जिज्ञासा-शैली द्वारा प्रश्न करते हैं। बताओ उस देहका मुख क्या बना? पांवोंका क्या बना? दूसरे शब्दोंमें, यह बताओ कि समाजके भिन्न २ भागोंकी उस विराट्-पुरुषमें कहां २ स्थिति थी? समाजमें इन भागोंकी जो परस्पर स्थिति थी, उसीका एक प्रकारसे विराट्-देहके ऊपर आरोप किया गया। अगला मन्त्र इसी बातको खोलता है।

(१२) *ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥६८॥* ०—१२॥

अर्थः—(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इसका (मुखं) मुख बना [यह तो आरोप हुआ, अब सृष्टिके विस्तारके भावसे कहना हो, तो यह कहेंगे, कि 'इसका मुख ब्राह्मण बना'] (बाहू) भुजाओंको (राजन्यः) क्षत्रिय (कृतः) बनाया गया (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य [है] (तत्) वह (अस्य) इसकी (ऊरू) जंघाएं [बनीं, और दूसरे अवरोपके भावसे, 'इसकी जंघाएं वैश्य बनीं]; (पद्भ्यां) पांवोंसे (शूद्रः) शूद्र (अजायत) पैदा हुआ ॥ ६८ ॥

जहां तक ध्यानका सम्बन्ध है, उसके दो भाग कहे जा सकते हैं। एक आरोप और दूसरा अवरोप, अर्थात् चढ़ाव और उतार। ध्यान करने वाले वर्तमानसे पीछेकी ओर चढ़ेंगे। ऊपर २ जाते २ सब पदार्थोंको परम पुरुषमें केन्द्रित होते हुए देखेंगे। फिर वे नीचे उतरते हुए, सब पदार्थोंको भगवान्से

निकलते हुए अनुभव करेंगे। प्रथम वे लोकसे प्रभु तक पहुंचेंगे और फिर प्रभुसे लोक तक आवेंगे। इसी भेदको लेकर, 'पुरुषका मुख ब्राह्मण बना,' या 'ब्राह्मण उसका मुख बना,' ये दो प्रकारका अर्थ दिखाया गया है। वास्तवमें बात एक ही है। नर नारायणसे उपजता है और नारायण नरमें व्यापक हो रहा है। समाजके ये चार भाग परस्पर क्या सम्बन्ध रखते हैं?

इनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा है? इस प्रश्नपर आगे चलकर विचार करनेका अवसर आवेगा। उस समय वैदिक समाज-शास्त्रका व्याख्यान किया जावेगा। आज इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि चाहे ब्राह्मण हो और चाहे शूद्र हो, भगवान्‌के कल्पित विराट्-देहका अंग होनेसे समानरूपसे आदरणीय है। घृणा किसीसे मत करो। सिरके लिये पांव अछूत नहीं हो सकता। एक ही शरीरमें भिन्न २ अंगोंको पूरे सहयोगसे रहना पड़ता है। यह हमारी मूर्खताका ही विस्तार है, जो एक भाई दूसरे भाईको अस्पृश्य बताकर उससे परे रहना चाहता है। यह अनर्थ है, अन्याय है। यह महा भयङ्कर जातीय रोग है। प्यारो, तुमने इससे बचकर रहना।

माया०—महाराज, यह झगड़ा केवल हमारे यहां ही नहीं। दूसरे देशोंमें भी इसी प्रकारकी समस्याएं हैं।

शून्य०—मुझे भी इस विषयमें कुछ कहना है।

महा०—सज्जनो, आज यही संकल्प है, कि जिस मुख्य विषयको कई दिनसे आप सुन रहे हैं, उसका उपसंहार किया जावे। यदि हम इस समय किसी अन्य चर्चामें लग गये, तो यह कार्य अधूरा रह जावेगा।

वस्तु० –महाराज, ऐसी जल्दी किस बातकी है ?

महा०—आप जानते ही हैं, मैं चौमासेमें प्रतिवर्ष कहीं न कहीं परिवर्त्तनके लिये निकल जाता हूं । सो वह समय आ पहुंचा है। इस लिये, आओ, आज प्रभु-जिज्ञासाके ही सम्बन्धमें कुछ थोड़ासा और विचार करलें । आपने विराट्-पुरुषसे मानव-समाजकी कल्पनाका चित्र देख लिया। अब उससे दिव्य सृष्टिका वर्णन करते हैं।

(१३) चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥६९॥ ०—१३॥

अर्थः—[उसके] (मनसः) मनसे (चन्द्रमाः) चन्द्र (जातः) पैदा हुआ।(चक्षोः) चक्षुसे (सूर्यः) सूर्य (अजायत) पैदा हुआ। (मुखात्) मुखसे (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (अग्निः) अग्नि [पैदा हुए] । (प्राणात्) प्राण (श्वास) से (वायुः) वायु (अजायत) पैदा हुआ ॥ ६९ ॥

चन्द्रमा और मनका विशेष सम्बन्ध समझा जाता है। इसकी न केवल आर्य साहित्यमें, वरन् दूसरे देशोंमें भी प्रसिद्धि है। शेष सम्बन्ध साधारणतया स्पष्ट है।

(१४) नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत । पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥७०॥०—१४॥

अर्थः—[उसकी] (नाभ्याः) नाभिसे (अन्तरिक्षं) मध्यलोक (आसीत्) होगया। (शीर्ष्णः) सिरसे (द्यौः) द्यु-लोक (सम्-अवर्तत) बन गया। (पद्भ्यां) पांवोंसे (भूमिः) भूमी [पैदा हुई] (श्रोत्रात्) कानसे (दिशः) दिशाएं (बनीं)

(तथा) इस प्रकार [उन्होंने] (लोकान्) लोकोंकी (अकल्पयन्) कल्पनाकी ॥ ७० ॥

(१५) *सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः । देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥७१॥* ०—१५ ॥

अर्थः—(यत्) जब [उक्त प्रकारसे] (देवाः) देवताओंने (यज्ञं) यज्ञका (तन्वानाः) विस्तार करते हुए (पुरुषं) पुरुष (पशुं) पशुको (अबध्नन्) बांधा [तो] (अस्य) इस [यज्ञ] की (सप्त) सात (परि-धयः) परिधियां (आसन्) थीं (त्रिःसप्त) इक्कीस (समिधः) जलाने योग्य काष्ठ (कृताः) बनाये गये ॥ ७१ ॥

साधन-सम्पन्न योगीश्वर विश्व-यज्ञका विचार करते २, पुरुषपर ध्यानको अवस्थित करते हैं । पुरुष सर्वव्यापक है । परन्तु जैसे लोग घोड़े आदि महाबल पशुको खूगटेसे बांध लेते हैं, ऐसे ही योगीजन, अपनी भावनाके बलसे उस सर्वत्र व्यापक देवको, मानो, अपने अन्तःकरणमें बांध लेते हैं । असलमें वे अपने ध्यानको उसपर जमा देते हैं । पर यह सिद्धि यों ही प्राप्त होने वाली नहीं है । उस मानसिक यज्ञके इर्द गिर्द सात मण्डल हैं । जहां तक पांच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिकी दौड़ है, वहां तक ही इस यज्ञका विस्तार है । ये सातों एक प्रकारके घेरे हैं, जिनके मध्यमें, योगीका हृदय है । वहां वह सर्वाधार, पुरुष द्वारा यज्ञ कर रहा है । इसका यह भाव नहीं है, कि यज्ञ इस सीमासे आगे विस्तार नहीं कर सकता । प्रभुके दृष्टिकोणसे इससे अनन्तगुणा अधिक विस्तार करसकता है । परन्तु

मनुष्यका ब्रह्माण्ड इन सात घेरोंसे पार नहीं जा सकता। इनसे पारका चित्र उसका मन नहीं खींच सकता। परन्तु यह नहीं है, कि जहां तक उसका मन जाता है, संसार उससे आगे नहीं है। एक बात और विचारने योग्य कही है। योगी और अयोगीमें भेद बताया है। पांचों इन्द्रियां, मन और बुद्धि तो सबमें पायी जाती हैं। पर यह मानस-यज्ञ योगी ही क्यों करते हैं? इसका कारण यह है, कि शेष लोग इस यज्ञमें जलानेके लिये कोई पदार्थ उपस्थित नहीं कर सकते। योगी, अपना सर्वस्व इक्कीस समिधाओंके रूपमें होमकर, ब्रह्म-ज्ञानके प्रदीपको प्रज्वलित कर लेता है। ये सातों उसके सांसारिक सम्बन्धके डोरे हैं। इनके द्वारा उसे शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संकल्प-विकल्प और बौद्धिक धारणाका भण्डार प्राप्त होता है। प्रत्येक भण्डार सात्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे तीन प्रकारका होकर, उसके लिये कुल कोश इक्कीस प्रकारका बन जाता है। उसकी यह सम्पत्ति है, जैसे यह सब मनुष्योंकी होती है। परन्तु हम इसकी लालसाको छोड़ नहीं सकते। इसकी चित्र, विचित्र वासनाओं द्वारा इसी चक्रमें घूमते रहते हैं। परन्तु भगवान्का भक्त इसे साधना द्वारा समिधा बनाकर जला डालता है। प्रभु उसे अपना प्यारा जानकर आशीर्वाद देते हैं। उसका यज्ञ सफल होता है। अब पुरुष उसके हृदय-मन्दिरमें प्रतिष्ठित होजाता है। धन्य हैं, वे जन जो इस प्रकार आत्मयाजी होकर प्रभु-प्रसादके पात्र बन जाते हैं।

(१६) *यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥* ७२।०-१६॥

अर्थः—(देवाः) देवताओंने (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (यज्ञं) यज्ञकी (अजयन्त) पूजा की (तानि) ये (प्रथमानि) प्रथम (धर्माणि) धर्म (आसन्) थे (ते) वे (ह) सचमुच (महिमानः) उन्नत होकर (नाकं) [उस] परम सुखधामको (सचन्त) प्राप्त हुए (यत्र) जहां (पूर्वे) पहिले (साध्यः) सिद्धियुक्त (देवाः) विद्वान् [प्राप्त हुए थे] ॥ ७२ ॥

पुरुष स्वयं यज्ञस्वरूप है। उक्त प्रकारसे जो यज्ञस्वरूप होकर उसे प्रसन्न कर लेते हैं, उन्हें कौनसा सुख है, जो प्राप्त नहीं हो जाता। सज्जनो, सच्चे साधक बनो। वेद आश्वासन देता है। अनादिकालसे दोनों ही मार्ग खुल रहे हैं। एक प्रेयका और दूसरा श्रेयका। एक प्रवृत्तिका और दूसरा निवृत्तिका। जो श्रेय और निवृत्तिके मार्गपर चलेगा, उसे भी विश्वास करना चाहिये कि मैं इस पथका पहिला पथिक नहीं हूं। यदि पूर्व साधकोंको सिद्धि प्राप्त हुई, तो मुझे भी अवश्य होगी। यदि आरम्भमें कुछ कठिनताका सामना करना पड़े, तो कायरतासे मार्गका त्याग न कर दे। यात्रा लंबी और कठिन है। चढ़ाई ऊंची और सीधी है। पर जब ऊपर चढ़कर शीतल पवनका स्पर्श होगा और प्रकाशमान सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होगा, तो सब थकावट दूर हो जावेगी। धन्यवादसे सिर प्रभुके चरणोंमें झुक जावेगा। पता तब लगेगा जब प्रेमाश्रुओंकी क्रम २ बहती हुई धारा आगेकी भूमीको गीला करती २ वहीं पर प्रेमका प्रवाह बहा देगी। वह प्रवाह स्वच्छ, निर्मल होगा। उसमें साधक अपने स्वरूपकी वास्तविक झलकको देख सकेगा।

सज्जनो, इस प्रकार 'पुरुष-सूक्त' सच्चे अर्थोंमें कुतूहल और जिज्ञासाके भावको आदिसे अन्त तक निबाहता हुआ, भगवान्के रचाये हुए विश्व-यज्ञका सुन्दर वर्णन करता हुआ, अन्तमें प्रभु-भक्तिके शुद्ध भावमें सर्वथा लीन हो जाता है। इसकी बड़ी महिमा है। यह अथर्ववेदमें भी पाया जाता है। यजुर्वेदका यह एक सम्पूर्ण अध्याय है। वहांपर कुछ और भी अधिक विस्तार है। परन्तु मैंने आपके सामने ऋग्वेदसे यह सारा वर्णन किया है। वर्तमान प्रयोजनके लिये इतना ही पर्याप्त है। इस प्रकार, प्यारो, जिज्ञासाका प्रकरण समाप्त होता है। आरम्भमें आपने देखा कि किस तरह प्रकृतिका सच्चा दर्शन स्वयमेव हृदयको भगवान्की ओर प्रेरित करता है। तर्क और विज्ञान आरंभ २में अपने आपको पूर्ण समझते हैं। पर, अनुभव बढ़ता है। बड़े २ तार्किक और वैज्ञानिक शनैः २ भगवान्की सत्ताको धारण करके सन्तुष्टिको प्राप्त करते हैं। पर केवल तर्कद्वारा सच्चाईका पूरा परिचय नहीं होता। आकांक्षा बनी बनायी रह जाती है। अपेक्षा बीचमें लटकती रह जाती है। अनुभवका द्वार खुलते ही मनुष्य निहाल हो जाता है। आपने देखा कि किस तरह वेदके पवित्र मन्त्र आध्यात्मिक प्रेरणा और जिज्ञासाको स्वाभाविक चक्रसे उभारते हुए, शनैः २ मार्गका विस्तार करते हैं। एक ही विषयका किस प्रकार भिन्न २ वर्णन करते हुए, वेदका नवीनपन स्थिर रहता है, इसका भी आपने दिग्दर्शन कर लिया। अन्तमें जिज्ञासाकी वृत्तिकी शान्तिके लिये, विश्व-यज्ञको समझकर आत्म-यज्ञको रचानेका प्रकार और उसमें प्रवृत्त होनेका मार्ग तथा उसे

सिद्ध करनेपर प्राप्त होने वाला फल भी आपके सामने आ चुका है। आगे जब भगवान् फिर मेल मिलायगा, तो प्रभुके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिके विषयमें विशेष रूपसे चर्चा चलेगी। परन्तु इस प्रकरणमें भी जो कुछ आ चुका है, वह भी हमारे आध्यात्मिक विकासके लिये पूर्णतया उपयोगी होगा। प्रभु आशीर्वाद दें कि हम सबकी इधर प्रवृत्ति हो।

वस्तु०—महाराज, किधर जानेका विचार है ?

महा०—अभी पूरा निश्चय नहीं किया। जिधर चित्त करेगा, चल देंगे। हमने कौनसे ऊंट, घोड़े लादने हैं।

सत्य०—क्या मैं भी साथ चल सकूंगा ?

महा०—मुझे कोई आपत्ति नहीं। यदि तुम कुछ लाभ समझते हो, तो तय्यार रहो।

सत्य०—महाराज, लाभकी भली कही। मुझे तो केवल आशाकी ही प्रतीक्षा रहती है।

महा०—बहुत अच्छा, तो सज्जनो, खूब पुरुषार्थ करते रहना। अपने २ ढंगपर सच्चे वैदिक जीवनको अपने अन्दर विकसित करनेका यत्न करना। (उनके ऐसा कहने पर, सबने झुककर प्रणाम किया, और डुबडुबाते नेत्रोंके साथ विदा हुए)।

[तुरीये वेदसन्देशेऽध्यायेऽपि जागदीश्वरे ।
अगादेवं किलोच्छ्वासो जिज्ञासायामथादिमः ॥१॥
सामान्यतत्त्वचर्चायां देहोपवर्णने तथा ।
प्रथमः प्रगतो भागो मानसोऽभूदथापरः ॥ २ ॥
भागश्चापि तृतीयोऽयं प्रभुप्रसादयोजकः ।
तज्जिज्ञासां प्रकुर्वाणः सम्पूर्णः शन्तनोतु वः ॥३॥]

——:o:——
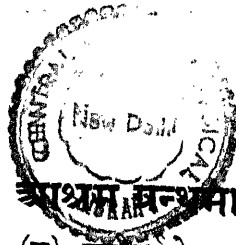
वैदिक आश्रम ग्रन्थमालाके नियम

(१) उद्देश्यः—(क) आर्यधर्मके सन्देश को सुन्दर, सरल, स्थायी तथा सस्ते से सस्ते साहित्य द्वारा सर्व साधारण तक पहुंचाना।

(२) वेदादि सच्छास्त्रोंके पूर्ण अनुवादों तथा नाना प्रकारके संग्रहोंका भिन्न २ भाषाओंमें प्रकाशित करना।

(३) नियमः—(१) जो सज्जन १०१) रु०, २५०) रु० या ५००) रु० देंगे, उन्हें क्रमसे स्थिर सभ्य, प्रतिष्ठित सभ्य, और संरक्षक समझा जावेगा।

(२) यदि कोई सभ्य या संरक्षक एक वार सारा शुल्क न देसके, तो खण्ड २ करके दे सकेगा।

(३) प्रत्येक सभ्य और संरक्षकके पास ग्रन्थमालाकी प्रकाशित प्रत्येक पुस्तककी एक २ प्रति भेराटके रूपमें पहुंचती रहेगी।

(४) प्रत्येक सभ्य तथा संरक्षकके पास कार्य विवरण भेजा जाया करेगा और ग्रन्थमालाकी उन्नतिके लिये वे जो प्रस्ताव भेजेंगे, उनपर पूरा ध्यान दिया जावेगा।

(५) स्थिरग्राहकका प्रवेश-शुल्क केवल ॥) होगा।

(६) प्रत्येक स्थिर ग्राहकको तीन चौथाई मूल्यपर पुस्तक दी जावेगी और नई पुस्तकोंके छपनेकी सूचना दी जावेगी।

(७) पत्र भेजनेके १५ दिनके अन्दर यदि इनकार न किया जावेगा, तो पुस्तकें वी० पी० पी० द्वारा भेजदी जावेंगी।

———